

अथ एकादशोऽध्यायः

अवतरणिका—

दसवें अध्यायके अन्तमें भगवान्ने अर्जुनपर विशेष कृपा करके कहा कि सम्पूर्ण जगत् अर्थात् अनन्त सृष्टियाँ मेरे किसी एक अंशमें हैं और वह मैं तेरा सारथि बना हुआ तेरे घोड़ोंकी लगाम और चाबुक लेकर बैठा हूँ तथा तेरी आज्ञाका पालन कर रहा हूँ! जब सब विभूतियों और योग-(प्रभाव-) का महान् आधार मैं तेरे सामने बैठा हूँ, तब तुझे अलग-अलग विभूतियोंको जाननेकी क्या आवश्यकता है? इस बातको सुनकर जब अर्जुनकी दृष्टि भगवान्की महती कृपापर गयी, तब वे बड़े आश्चर्यमें डूब जाते हैं और बोल उठते हैं—

अर्जुन उवाच

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसञ्ज्ञितम् ।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम ॥ १ ॥

अर्जुन बोले—

मदनुग्रहाय	=केवल मुझपर कृपा करनेके लिये	गुह्यम्	= गोपनीय	तेन	=उससे
त्वया	=आपने	अध्यात्म-		मम	=मेरा
यत्	=जो	सञ्ज्ञितम्	=अध्यात्म-विषयक	अयम्	=यह
परमम्	=परम	वचः	=वचन	मोहः	=मोह
		उक्तम्	=कहे,	विगतः	=नष्ट हो गया है।

व्याख्या—[भगवान्की कृपाका अनुभव करके अर्जुन भावविभोर हो उठे और कृपाका रहस्य प्रकट करनेके लिये जब अत्यधिक प्रसन्नतासे बोले, तब नियमका खयाल न रहनेसे यह श्लोक तैंतीस अक्षरोंका आया है, जब कि गीताभरमें अनुष्टुप् छन्दवाले श्लोक बत्तीस अक्षरोंके ही आये हैं। तात्पर्य है कि अत्यधिक प्रसन्नता होनेपर नियमका ध्यान नहीं रहता।]

‘मदनुग्रहाय’—मेरा भजन करनेवालोंपर कृपा करके मैं स्वयं उनके अज्ञानजन्य अन्धकारका नाश कर देता हूँ (गीता—दसवें अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक)—यह बात भगवान्ने केवल कृपा-परवश होकर कही। इस बातका अर्जुनपर बड़ा प्रभाव पड़ा, जिससे अर्जुन भगवान्की स्तुति

करने लगे (दसवें अध्यायके बारहवेंसे पन्द्रहवें श्लोकतक)। ऐसी स्तुति उन्होंने पहले गीतामें कहीं नहीं की। उसीका लक्ष्य करके अर्जुन यहाँ कहते हैं कि केवल मेरेपर कृपा करनेके लिये ही आपने ऐसी बात कही है*।

‘परमं गुह्यम्’—अपनी प्रधान-प्रधान विभूतियोंको कहनेके बाद भगवान्ने दसवें अध्यायके अन्तमें अपनी ओरसे कहा कि मैं अपने किसी अंशमें सम्पूर्ण जगत्को, अनन्त-कोटि ब्रह्माण्डोंको व्याप्त करके स्थित हूँ (दसवें अध्यायका बयालीसवाँ श्लोक) अर्थात् भगवान्ने खुद अपना परिचय दिया कि मैं कैसा हूँ। इसी बातको अर्जुन परम गोपनीय मानते हैं।

‘अध्यात्मसञ्ज्ञितम्’—दसवें अध्यायके सातवें

* ऐसे तो पहले अध्यायसे लेकर यहाँतक भगवान्ने जो कुछ कहा है वह सब कृपा-परवश होकर ही कहा है। वास्तवमें भगवान्की सम्पूर्ण क्रियाओंमें कृपा भरी रहती है, पर मनुष्य उसे पहचानता नहीं। भगवान्की कृपाको पहचाननेपर भगवत्तत्त्वका अनुभव बहुत सुगमतासे और शीघ्रतासे हो जाता है। अर्जुनका लक्ष्य भी जब भगवत्कृपाकी ओर जाता है, तब वे विभोर होकर कह उठते हैं कि आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया।

श्लोकमें भगवान्ने कहा था कि जो मेरी विभूति और योगको तत्त्वसे जानता है अर्थात् सम्पूर्ण विभूतियोंके मूलमें भगवान् ही हैं और सम्पूर्ण विभूतियाँ भगवान्की सामर्थ्यसे ही प्रकट होती हैं तथा अन्तमें भगवान्में ही लीन हो जाती हैं—ऐसा तत्त्वसे जानता है, वह अविचल भक्तियोगसे युक्त हो जाता है। इसी बातको अर्जुन अध्यात्मसंज्ञित मान रहे हैं^१।

‘यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम’—सम्पूर्ण जगत् भगवान्के किसी एक अंशमें है—इस बातपर पहले अर्जुनकी दृष्टि नहीं थी और वे स्वयं इस बातको जानते भी नहीं थे, यही उनका मोह था। परन्तु जब भगवान्ने कहा कि सम्पूर्ण जगत्को अपने एक अंशमें व्याप्त करके मैं तेरे सामने बैठा हूँ, तब अर्जुनकी इस तरफ

दृष्टि गयी कि भगवान् कितने विलक्षण हैं! उनके किसी एक अंशमें अनन्त सृष्टियाँ उत्पन्न होती हैं, उसमें स्थित रहती हैं और उसीमें लीन हो जाती हैं और वे जैसे-के-वैसे रहते हैं! इस मोहके नष्ट होते ही अर्जुनको यह खयाल आया कि पहले जो मैं इस बातको नहीं जानता था, वह मेरा मोह ही था^२। इसलिये अर्जुन यहाँ अपनी दृष्टिसे कहते हैं कि भगवन्! मेरा यह मोह सर्वथा चला गया है। परन्तु ऐसा कहनेपर भी भगवान्ने इसको (अर्जुनके मोहनाशको) स्वीकार नहीं किया; क्योंकि आगे उनचासवें श्लोकमें भगवान्ने अर्जुनसे कहा है कि तेरेको व्यथा और मूढभाव (मोह) नहीं होना चाहिये—‘मा ते व्यथा मा च विमूढभावः।’

परिशिष्ट भाव—अर्जुन कहते हैं कि आपने जो वचन कहे हैं, वे केवल मेरेपर कृपा करके ही कहे हैं, अपनी विद्वत्ता बतानेके लिये नहीं। इसमें केवल कृपाके अलावा और कोई हेतु नहीं है।

सम्पूर्ण प्राणियोंके आदि, मध्य तथा अन्तमें मैं ही हूँ (दसवें अध्यायका बीसवाँ श्लोक), मैं ही सम्पूर्ण प्राणियोंका बीज हूँ, (दसवें अध्यायका उनतालीसवाँ श्लोक), ऐश्वर्य, शोभा और बलसे युक्त प्रत्येक वस्तुको मेरे ही योगके अंशसे उत्पन्न हुई समझो (दसवें अध्यायका इकतालीसवाँ श्लोक), मैं अपने एक अंशसे सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त करके स्थित हूँ, (दसवें अध्यायका बयालीसवाँ श्लोक)—इन वचनोंको सुननेसे अर्जुनको ऐसा लगा कि मेरा मोह नष्ट हो गया। परन्तु वास्तवमें उनका आंशिक मोह नष्ट हुआ है, पूरा नहीं।

सम्बन्ध—मोह कैसे नष्ट हो गया—इसीको आगेके श्लोकमें विस्तारसे कहते हैं।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।

त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥ २ ॥

हि	= क्योंकि	विनाश	च	= और (आपका)
कमलपत्राक्ष	= हे कमलनयन!	मया	अव्ययम्	= अविनाशी
भूतानाम्	= सम्पूर्ण प्राणियोंके	विस्तरशः	माहात्म्यम्	= माहात्म्य
भवाप्ययौ	= उत्पत्ति तथा	त्वत्तः	अपि	= भी
		श्रुतौ		(सुना है)।

व्याख्या—भवाप्ययौ हि भूतानां त्वत्तः श्रुतौ विस्तरशो मया’—भगवान्ने पहले कहा था—मैं सम्पूर्ण जगत्का प्रभव और प्रलय हूँ, मेरे सिवाय अन्य कोई कारण नहीं है (सातवें अध्यायका छठा-सातवाँ श्लोक); सात्त्विक, राजस और तामस भाव मेरेसे ही होते हैं (सातवें अध्यायका बारहवाँ श्लोक); प्राणियोंके अलग-अलग अनेक तरहके

भाव मेरेसे ही होते हैं (दसवें अध्यायका चौथा-पाँचवाँ श्लोक); सम्पूर्ण प्राणी मेरेसे ही होते हैं और मेरेसे ही सब चेष्टा करते हैं (दसवें अध्यायका आठवाँ श्लोक); प्राणियोंके आदि, मध्य तथा अन्तमें मैं ही हूँ (दसवें अध्यायका बीसवाँ श्लोक) और सम्पूर्ण सृष्टियोंके आदि, मध्य तथा अन्तमें मैं ही हूँ (दसवें अध्यायका

१-भगवान्ने अभीतक भक्तिकी जितनी बातें कही हैं, वे सब-की-सब परम गोपनीय अध्यात्म उपदेश हैं।

२-मोहके रहते हुए मोहका ज्ञान नहीं होता, प्रत्युत मोहके चले जानेपर ही मोहका ज्ञान होता है और ज्ञान होनेपर मोह रहता ही नहीं।

बत्तीसवाँ श्लोक)। इसीको लेकर अर्जुन यहाँ कहते हैं कि मैंने आपसे प्राणियोंकी उत्पत्ति और प्रलयका वर्णन विस्तारसे सुना है। इसका तात्पर्य प्राणियोंकी उत्पत्ति और विनाश सुननेसे नहीं है, प्रत्युत इसका तात्पर्य यह सुननेसे है कि सभी प्राणी आपसे ही उत्पन्न होते हैं, आपमें ही रहते हैं और आपमें ही लीन हो जाते हैं अर्थात् सब कुछ आप ही हैं।

‘माहात्म्यमपि चाव्ययम्’—आपने दसवें अध्यायके सातवें श्लोकमें बताया कि मेरी विभूति और योगको जो

तत्त्वसे जानता है, वह अविकम्प भक्तियोगसे युक्त हो जाता है। इस प्रकार आपकी विभूति और योगको तत्त्वसे जाननेका माहात्म्य भी मैंने सुना है।

माहात्म्यको ‘अव्यय’ कहनेका तात्पर्य है कि भगवान्की विभूति और योगको तत्त्वसे जाननेपर भगवान्में जो भक्ति होती है, प्रेम होता है, भगवान्से अभिन्नता होती है, वह सब अव्यय है। कारण कि भगवान् अव्यय, नित्य हैं तो उनकी भक्ति, प्रेम भी अव्यय ही होगा।

परिशिष्ट भाव—इस श्लोकमें अर्जुन अपनी दृष्टिसे मोह नष्ट होनेका कारण बताते हैं।

‘माहात्म्यमपि चाव्ययम्’—यहाँ ‘अपि’ पदसे ऐसा अर्थ निकलता है कि अर्जुनने भगवान्का विनाशी माहात्म्य भी सुना है और अविनाशी माहात्म्य भी सुना है। ‘भवाप्यथौ हि भूतानाम्’—यह भगवान्का विनाशी अर्थात् परिवर्तनशील माहात्म्य है। मनुष्य भगवान्के साथ किसी भी प्रकारसे सम्बन्ध जोड़ ले तो वह कल्याण ही करेगा—यह भगवान्का अविनाशी अर्थात् अपरिवर्तनशील माहात्म्य है। तात्पर्य है कि सत्-असत् सब कुछ भगवान् ही हैं—‘सदसच्चाहम्’ (गीता ९। १९)।

सम्बन्ध—अब आगेके दो श्लोकोंमें अर्जुन विराटरूपके दर्शनके लिये भगवान्से प्रार्थना करते हैं।

**एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर ।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥ ३ ॥**

पुरुषोत्तम	= हे पुरुषोत्तम !	एतत्	= यह	ऐश्वरम्	= ईश्वर-सम्बन्धी
त्वम्	= आप		(वास्तवमें)	रूपम्	= रूपको
आत्मानम्	= अपने-आपको	एवम्	= ऐसा ही है।		(मैं)
यथा	= जैसा	परमेश्वर	= हे परमेश्वर !	द्रष्टुम्	= देखना
आत्थ	= कहते हैं,	ते	= आपको	इच्छामि	= चाहता हूँ।

व्याख्या—पुरुषोत्तम—यह सम्बोधन देनेका तात्पर्य है कि हे भगवन्! मेरी दृष्टिमें इस संसारमें आपके समान कोई उत्तम, श्रेष्ठ नहीं है अर्थात् आप ही सबसे उत्तम, श्रेष्ठ हैं। इस बातको आगे पन्द्रहवें अध्यायके अठारहवें श्लोकमें भगवान्ने भी कहा है कि मैं क्षरसे अतीत और अक्षरसे उत्तम हूँ; अतः मैं शास्त्र और वेदमें पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हूँ।

‘एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मानम्’—हे पुरुषोत्तम! आपने (सातवें अध्यायसे दसवें अध्यायतक) मेरे प्रति अपने अलौकिक प्रभावका, सामर्थ्यका जो कुछ वर्णन किया, वह वास्तवमें ऐसा ही है।

यह संसार मेरेसे ही उत्पन्न होता है और मेरेमें ही लीन हो जाता है (सातवें अध्यायका छठा श्लोक), मेरे सिवाय

इसका और कोई कारण नहीं है (सातवें अध्यायका सातवाँ श्लोक), सब कुछ वासुदेव ही है (सातवें अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक), ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञरूपमें मैं ही हूँ (सातवें अध्यायका उन्नीसवाँ-तीसवाँ श्लोक), अनन्य भक्तिसे प्रापणीय परम तत्त्व मैं ही हूँ (आठवें अध्यायका बाईसवाँ श्लोक), मेरेसे ही यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है, पर मैं संसारमें और संसार मेरेमें नहीं है (नवें अध्यायका चौथा-पाँचवाँ श्लोक), सत् और असत्-रूपसे सब कुछ मैं ही हूँ (नवें अध्यायका उन्नीसवाँ श्लोक), मैं ही संसारका मूल कारण हूँ और मेरेसे ही सारा संसार सत्ता-स्फूर्ति पाता है (दसवें अध्यायका आठवाँ श्लोक), यह सारा संसार मेरे ही किसी एक अंशमें स्थित है (दसवें अध्यायका बयालीसवाँ श्लोक)

आदि-आदि। अपने-आपको आपने जो कुछ कहा है, वह सब-का-सब यथार्थ ही है।

‘परमेश्वर’—भगवान्के मुखसे अर्जुनने पहले सुना है कि ‘मैं ही सम्पूर्ण प्राणियोंका और सम्पूर्ण लोकोंका महान् ईश्वर हूँ—‘भूतानामीश्वरोऽपि’ (४। ६); ‘सर्वलोक-महेश्वरम्’ (५। २९)। इसलिये अर्जुन यहाँ भगवान्के विलक्षण प्रभावसे प्रभावित होकर उनके लिये ‘परमेश्वर’ सम्बोधन देते हैं, जिसका तात्पर्य है कि हे भगवन्! वास्तवमें आप ही परम ईश्वर हैं, आप ही सम्पूर्ण ऐश्वर्यके मालिक हैं।

‘द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरम्’—अर्जुन कहते हैं कि मैंने आपसे आपका माहात्म्यसहित प्रभाव सुन लिया है और इस विषयमें मेरे हृदयमें दृढ़ विश्वास भी हो गया है। ‘सम्पूर्ण संसार मेरे शरीरके एक अंशमें है’—इसे सुनकर मेरे मनमें आपके उस रूपको देखनेकी उत्कट लालसा हो रही है।

दूसरा भाव यह है कि आप इतने विलक्षण और महान् होते हुए भी मेरे साथ कितना स्नेह रखते हैं, कितनी आत्मीयता रखते हैं कि मैं जैसा कहता हूँ, वैसा ही आप करते हैं और जो कुछ पूछता हूँ, उसका आप उत्तर देते हैं। इस कारण आपसे कहनेका, पूछनेका किंचिन्मात्र भी संकोच न होनेसे मेरे मनमें आपका वह रूप देखनेकी बहुत इच्छा हो रही है, जिसके एक अंशमें सम्पूर्ण संसार व्याप्त है।

दसवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें अर्जुनने कहा था कि आप अपनी पूरी-की-पूरी विभूतियाँ कह दीजिये, बाकी मत रखिये—‘वक्तुमर्हस्यशेषेण’, तो भगवान्ने विभूतियोंका वर्णन करते हुए उपक्रममें और उपसंहारमें

कहा कि मेरी विभूतियोंका अन्त नहीं है (दसवें अध्यायका उन्नीसवाँ और चालीसवाँ श्लोक)। इसलिये भगवान्ने विभूतियोंका वर्णन संक्षेपसे ही किया। परन्तु यहाँ जब अर्जुन कहते हैं कि मैं आपके एक रूपको देखना चाहता हूँ—‘द्रष्टुमिच्छामि ते रूपम्’, तब भगवान् आगे (पाँचवें श्लोकमें) कहेंगे कि तू मेरे सैकड़ों-हजारों रूपोंको देख। जैसे संसारमें कोई किसीसे लालचपूर्वक अधिक माँगता है, तो देनेवालेमें देनेका भाव कम हो जाता है और वह कम देता है। इसके विपरीत यदि कोई संकोचपूर्वक कम माँगता है, तो देनेवाला उदारतापूर्वक अधिक देता है। ऐसे ही वहाँ अर्जुनने स्पष्टरूपसे कह दिया कि आप सब-की-सब विभूतियाँ कह दीजिये तो भगवान्ने कहा कि मैं अपनी विभूतियोंको संक्षेपसे कहूँगा। इस बातको लेकर अर्जुन सावधान हो जाते हैं कि अब मेरे कहनेमें ऐसी कोई अनुचित बात न आ जाय। इसलिये अर्जुन यहाँ संकोचपूर्वक कहते हैं कि अगर मेरे द्वारा आपका विराटरूप देखा जा सकता है तो दिखा दीजिये। अर्जुनके इस संकोचको देखकर भगवान् बड़ी उदारतापूर्वक कहते हैं कि तू मेरे सैकड़ों-हजारों रूपोंको देख ले।

दूसरा भाव यह है कि अर्जुनके रथमें एक जगह बैठे हुए भगवान्ने यह कहा कि ‘तू जो मेरे इस शरीरको देख रहा है, इसके किसी एक अंशमें सम्पूर्ण जगत् (जिसके अन्तर्गत अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड हैं) व्याप्त है।’ तात्पर्य है कि भगवान्का छोटा-सा शरीर है और उस छोटे-से शरीरके किसी एक अंशमें सम्पूर्ण जगत् है। अतः उस एक अंशमें स्थित रूपको मैं देखना चाहता हूँ—यही अर्जुनके ‘रूपम्’ (एक रूप) कहनेका आशय मालूम देता है।

परिशिष्ट भाव—अर्जुनके कथनका तात्पर्य है कि मैंने आपकी बातोंको सुनकर ठीक समझ लिया है और अब उसमें कोई सन्देह नहीं रहा है। सब कुछ आप ही हैं—यह ठीक ऐसा ही है। अब केवल आपका ईश्वर-सम्बन्धी रूप देखना बाकी रह गया है।

उपदेश दो तरहसे होता है—कहना और करके दिखाना। पहले दसवें अध्यायमें भगवान्ने अपने समग्ररूपका वर्णन किया कि मैं अपने एक अंशसे सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त करके स्थित हूँ। अब इस अध्यायमें अर्जुन उसी रूपको प्रत्यक्ष दिखानेकी प्रार्थना करते हैं।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥ ४ ॥

प्रभो	= हे प्रभो!	इति	= —ऐसा	त्वम्	= आप
मया	= मेरे द्वारा	यदि	= अगर	आत्मानम्	= अपने (उस)
तत्	= (आपका) वह ऐश्वर- रूप	मन्यसे	= (आप) मानते हैं,	अव्ययम्	= अविनाशी स्वरूपको
द्रष्टुम्	= देखा	ततः	= तो	मे	= मुझे
शक्यम्	= जा सकता है	योगेश्वर	= हे योगेश्वर!	दर्शय	= दिखा दीजिये।

व्याख्या—प्रभो—‘प्रभु’ नाम सर्वसमर्थका है, इसलिये इस सम्बोधनका भाव यह मालूम देता है कि यदि आप मेरेमें विराटरूप देखनेकी सामर्थ्य मानते हैं, तब तो ठीक है; नहीं तो आप मेरेको ऐसी सामर्थ्य दीजिये, जिससे मैं आपका वह ऐश्वर (ईश्वर-सम्बन्धी) रूप देख सकूँ।

‘मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति’—इसका तात्पर्य है कि अगर आप अपना वह रूप नहीं दिखायेंगे, तो भी मैं यही मानूँगा कि आपका रूप तो वैसा ही है, जैसा आप कहते हैं, पर मैं उसको देखनेका अधिकारी नहीं हूँ, योग्य नहीं हूँ, पात्र नहीं हूँ। इस प्रकार अर्जुनको भगवान्के वचनोंमें किंचिन्मात्र भी सन्देह नहीं है, प्रत्युत दृढ़ विश्वास है। इसीलिये तो वे कहते हैं कि आप मेरेको अपना विराटरूप दिखाइये।

‘योगेश्वर’—‘योगेश्वर’ सम्बोधन देनेका यह भाव मालूम देता है कि भक्तियोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, ध्यानयोग,

हठयोग, राजयोग, लययोग, मन्त्रयोग आदि जितने भी योग हो सकते हैं, उन सबके आप मालिक हैं, इसलिये आप अपनी अलौकिक योगशक्तिसे वह विराटरूप भी दिखा दीजिये।

अर्जुनने दसवें अध्यायके सत्रहवें श्लोकमें भगवान्के लिये ‘योगिन्’ सम्बोधन दिया था अर्थात् भगवान्को योगी बताया था; परन्तु अब अर्जुनने भगवान्के लिये ‘योगेश्वर’ सम्बोधन दिया है अर्थात् भगवान्को सम्पूर्ण योगोंका मालिक बताया है। कारण यह है कि दसवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनकी भगवान्के प्रति जो धारणा थी, उस धारणामें अब बहुत परिवर्तन हुआ है।

‘ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्’—आपका वह स्वरूप तो अविनाशी ही है, जिससे अनन्त सृष्टियाँ उत्पन्न होती हैं, उसमें स्थित रहती हैं और उसीमें लीन हो जाती हैं। आप अपने ऐसे अविनाशी स्वरूपके दर्शन कराइये।

परिशिष्ट भाव—भगवान्के विश्वरूपको ‘अव्यय’ (अविनाशी) कहनेसे यह सिद्ध होता है कि सम्पूर्ण संसार भगवान्का ही स्वरूप है। अव्यय होनेसे इसका अत्यन्त अभाव नहीं होता (गीता—पन्द्रहवें अध्यायका पहला श्लोक)। वास्तवमें परिवर्तनशील (असत्) और अपरिवर्तनशील (सत्)—दोनों ही मिलकर भगवान्का समग्ररूप है—‘सदसच्चाहमर्जुन’। जड़ता केवल अपनी आसक्ति और अज्ञताके कारण ही प्रतीत होती है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें अर्जुनकी नम्रतापूर्वक की हुई प्रार्थनाको सुनकर अब भगवान् अर्जुनको विश्वरूप देखनेके लिये आज्ञा देते हैं।

श्रीभगवानुवाच

पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः ।

नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥ ५ ॥

श्रीभगवान् बोले—

पार्थ	= हे पृथानन्दन!	च	= और	शतशः	= सैकड़ों-
अथ	= अब	नाना-		सहस्रशः	= हजारों
मे	= मेरे	वर्णाकृतीनि	= अनेक वर्णों (रंगों) तथा	दिव्यानि	= अलौकिक
नानाविधानि	= अनेक तरहके		आकृतियोंवाले	रूपाणि	= रूपोंको
				पश्य	= (तू) देख।

व्याख्या—‘पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः’—अर्जुनकी संकोचपूर्वक प्रार्थनाको सुनकर भगवान् अत्यधिक प्रसन्न हुए; अतः अर्जुनके लिये ‘पार्थ’ सम्बोधनका प्रयोग करते हुए कहते हैं कि तू मेरे रूपोंको देख। रूपोंमें भी तीन-चार नहीं, प्रत्युत सैकड़ों-हजारों रूपोंको देख अर्थात् अनगिनत रूपोंको देख। भगवान्ने जैसे विभूतियोंके विषय कहा है कि मेरी विभूतियोंका अन्त नहीं आ सकता, ऐसे ही यहाँ भगवान्ने अपने रूपोंकी अनन्तता बतायी है।

‘नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च’— अब भगवान् उन रूपोंकी विशेषताओंका वर्णन करते हैं कि उनकी तरह-तरहकी बनावट है। उनके रंग भी तरह-तरहके हैं अर्थात् कोई किसी रंगका तो कोई किसी रंगका, कोई पीला तो कोई लाल आदि-आदि। उनमें भी एक-एक रूपमें कई तरहके रंग हैं। उन रूपोंकी आकृतियाँ भी तरह-तरहकी हैं अर्थात् कोई छोटा तो कोई मोटा, कोई

लम्बा तो कोई चौड़ा आदि-आदि।

जैसे पृथ्वीका एक छोटा-सा कण भी पृथ्वी ही है, ऐसे ही भगवान्के अनन्त, अपार विश्वरूपका एक छोटा-सा अंश होनेके कारण यह संसार भी विश्वरूप ही है। परन्तु यह हरेकके सामने दिव्य विश्वरूपसे प्रकट नहीं है, प्रत्युत संसाररूपसे ही प्रकट है। कारण कि मनुष्यकी दृष्टि भगवान्की तरफ न होकर नाशवान् संसारकी तरफ ही रहती है। जैसे अवतार लेनेपर भगवान् सबके सामने भगवद्रूपसे प्रकट नहीं रहते (गीता—सातवें अध्यायका पचीसवाँ श्लोक), प्रत्युत मनुष्यरूपसे ही प्रकट रहते हैं, ऐसे ही विश्वरूपभगवान् सबके सामने संसाररूपसे ही प्रकट रहते हैं अर्थात् हरेकको यह विश्वरूप संसाररूपसे ही दीखता है। परन्तु यहाँ भगवान् अपने दिव्य अविनाशी विश्वरूपसे साक्षात् प्रकट होकर अर्जुनको कह रहे हैं कि तू मेरे दिव्य रूपोंको देख।

परिशिष्ट भाव—अर्जुनने तो अपनेको असमर्थ मानकर भगवान्से अपना एक ऐश्वर्यरूप दिखानेकी प्रार्थना की थी और उसको भगवान्की इच्छापर छोड़ दिया था, पर भगवान् उनको सैकड़ों-हजारों रूपोंको देखनेकी बात कहते हैं। इससे सिद्ध होता है कि भगवान्की इच्छापर छोड़नेसे साधकको जो लाभ होता है, वह अपनी इच्छासे, अपनी बुद्धिसे नहीं होता। कारण कि मनुष्य कितनी ही विद्याएँ, कला-कौशल आदि सीख ले, कितने ही शास्त्र पढ़ ले तो भी उसकी बुद्धि तुच्छ, सीमित ही रहती है। साधकमें जितनी सरलता, निर्बलता, निरभिमानताका भाव होगा, उतना ही वह भगवान्को जानेगा। अपना अभिमान करके साधक भगवान्को जाननेमें आड़ ही लगाता है। वह जितना समझदार बनता है, उतना ही बेसमझ रहता है। अपनेको समझदार माननेसे वह समझदारीका गुलाम हो जाता है। वह जितना निरभिमान होता है, समझदारीका अभिमान नहीं करता, उतना ही वह समझदार होता है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने अपने विश्वरूपमें तरह-तरहके वर्णों और आकृतियोंको देखनेकी बात कही। अब आगेके श्लोकमें देवताओंको देखनेकी बात कहते हैं।

पश्यादित्यान्वसून्द्रानश्विनौ मरुतस्तथा ।

बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥ ६ ॥

भारत	= हे भरतवंशोद्भव अर्जुन!	अश्विनौ	= दो अश्विनी-कुमारोंको	अदृष्टपूर्वाणि	= जिनको तूने पहले कभी देखा नहीं,
आदित्यान्	= बारह आदित्योंको,	तथा	= तथा	बहूनि	= (ऐसे) बहुत-से
वसून्	= आठ वसुओंको,	मरुतः	= उनचास मरुद्गणोंको	आश्चर्याणि	= आश्चर्यजनक रूपोंको (भी)
रुद्रान्	= ग्यारह रुद्रोंको (और)	पश्य	= देख।	पश्य	= (तू) देख।

व्याख्या—पश्यादित्यान्वसून्द्रानश्विनौ मरुतस्तथा’— अदितिके पुत्र धाता, मित्र, अर्यमा, शक्र, वरुण, अंश, भग, विवस्वान्, पूषा, सविता, त्वष्टा और विष्णु—ये बारह ‘आदित्य’ हैं (महा०, आदि० पैंसठवाँ अध्याय,

पन्द्रहवाँ-सोलहवाँ श्लोक) ।

धर, ध्रुव, सोम, अहः, अनिल, अनल, प्रत्युष और प्रभास—ये आठ ‘वसु’ हैं (महा०, आदि० छाछठवाँ अध्याय, अठारहवाँ श्लोक) ।

हर, बहुरूप, त्र्यम्बक, अपराजित, वृषाकपि, शम्भु, कपर्दी, रैवत, मृगव्याध, शर्व और कपाली—ये ग्यारह 'रुद्र' हैं (हरिवंश० पहला पर्व, तीसरा अध्याय, इक्यावनवाँ-बावनवाँ श्लोक)।

'अश्विनीकुमार' दो हैं। ये दोनों भाई देवताओंके वैद्य हैं।

सत्त्वज्योति, आदित्य, सत्यज्योति, तिर्यग्ज्योति, सज्योति, ज्योतिष्मान्, हरित, ऋतजित्, सत्यजित्, सुषेण, सेनजित्, सत्यमित्र, अभिमित्र, हरिमित्र, कृत, सत्य, ध्रुव, धर्ता, विधर्ता, विधारय, ध्वान्त, धुनि, उग्र, भीम, अभियु, साक्षिप, ईदृक्, अन्यादृक्, यादृक्, प्रतिकृत्, ऋक्, समिति, संरम्भ, ईदृक्ष, पुरुष, अन्यादृक्ष, चेतस, समिता, समिदृक्ष, प्रतिदृक्ष, मरुति, सरत, देव, दिश, यजुः, अनुदृक्, साम, मानुष और विश्—ये उनचास 'मरुत' हैं (वायुपुराण, सड़सठवाँ अध्याय, एक सौ तेईसवेंसे एक सौ तीसवें

श्लोकतक)—इन सबको तू मेरे विराटरूपमें देख।

बारह आदित्य, आठ वसु, ग्यारह रुद्र और दो अश्विनीकुमार—ये तैंतीस कोटि (तैंतीस प्रकारके) देवता सम्पूर्ण देवताओंमें मुख्य हैं। देवताओंमें मरुद्गणोंका नाम भी आता है, पर वे उनचास मरुद्गण इन तैंतीस प्रकारके देवताओंसे अलग माने जाते हैं; क्योंकि वे सभी दैत्योंसे देवता बने हैं। इसलिये भगवान्ने भी 'तथा' पद देकर मरुद्गणोंको अलग बताया है।

'बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत'—तुमने इन रूपोंको पहले कभी आँखोंसे नहीं देखा है, कानोंसे नहीं सुना है, मनसे चिन्तन नहीं किया है, बुद्धिसे कल्पना नहीं की है। इन रूपोंकी तरफ तुम्हारी कभी वृत्ति ही नहीं गयी है। ऐसे बहुत-से अदृष्टपूर्व रूपोंको तू अब प्रत्यक्ष देख ले।

इन रूपोंके देखते ही आश्चर्य होता है कि अहो! ऐसे भी भगवान्के रूप हैं! ऐसे अद्भुत रूपोंको तू देख।

परिशिष्ट भाव—पिछले श्लोकमें भगवान्ने विराटरूपमें अनेक तरहके और अनेक रंगों तथा आकृतियोंवाले रूपोंको देखनेकी बात कही थी, अब उसी बातको इस श्लोकमें विस्तारसे कहते हैं।

भगवान्के कथनका तात्पर्य है कि सभी देवता मेरे स्वरूप हैं अर्थात् उन देवताओंके रूपमें मैं ही हूँ (गीता—नवें अध्यायका तेईसवाँ श्लोक)।

सम्बन्ध—भगवान्द्वारा विश्वरूप देखनेकी आज्ञा देनेपर अर्जुनकी यह जिज्ञासा हो सकती है कि मैं इस रूपको कहाँ देखूँ? अतः भगवान् कहते हैं—

**इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥ ७ ॥**

गुडाकेश	= हे नींदको जीतने- वाले अर्जुन!	सचराचरम्	= चराचरसहित	और
मम	= मेरे	कृत्स्नम्	= सम्पूर्ण	च
इह	= इस	जगत्	= जगत्को	यत्
देहे	= शरीरके	अद्य	= अभी	द्रष्टुम्
एकस्थम्	= एक देशमें	पश्य	= देख ले।	इच्छसि
		अन्यत्	= इसके सिवाय (तू)	= चाहता है, (वह भी देख ले)

व्याख्या—गुडाकेश'—निद्रापर अधिकार प्राप्त करनेसे अर्जुनको 'गुडाकेश' कहते हैं। यहाँ यह सम्बोधन देनेका तात्पर्य है कि तू निरालस्य होकर सावधानीसे मेरे विश्वरूपको देख।

'इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्, मम देहे'—दसवें अध्यायके अन्तमें भगवान्ने कहा था कि मैं सम्पूर्ण जगत्को एक अंशसे व्याप्त करके स्थित हूँ। इसीपर

अर्जुनके मनमें विश्वरूप देखनेकी इच्छा हुई। अतः भगवान् कहते हैं कि हाथमें घोड़ोंकी लगाम और चाबुक लेकर तेरे सामने बैठे हुए मेरे इस शरीरके एक देश-(अंश-) में चर-अचरसहित सम्पूर्ण जगत्को देख। एक देशमें देखनेका अर्थ है कि तू जहाँ दृष्टि डालेगा, वहीं तेरेको अनन्त ब्रह्माण्ड दीखेंगे। तू मनुष्य, देवता, यक्ष, राक्षस, भूत, पशु, पक्षी आदि चलने-फिरनेवाले जंगम और वृक्ष, लता, घास, पौधा

आदि स्थावर तथा पृथ्वी, पहाड़, रेत आदि जडसहित सम्पूर्ण जगत्को 'अद्य'—अभी, इसी क्षण देख ले, इसमें देरीका काम नहीं है।

'यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि'—भगवान्के शरीरमें सब बातें वर्तमान थीं अर्थात् जो बातें भूतकालमें बीत गयी हैं और जो भविष्यमें बीतनेवाली हैं, वे सब बातें भगवान्के शरीरमें वर्तमान थीं। इसलिये भगवान् कहते हैं कि तू और भी जो कुछ देखना चाहता है, वह भी देख ले। अर्जुन और क्या देखना चाहते थे? अर्जुनके मनमें सन्देह था कि युद्धमें जीत हमारी होगी या कौरवोंकी? (गीता—दूसरे अध्यायका छठा श्लोक) इसलिये भगवान् कहते हैं कि वह भी तू मेरे इस शरीरके एक अंशमें देख ले।

विशेष बात

जैसे दसवें अध्यायमें भगवान्से 'जो मेरी विभूति और योगको तत्त्वसे जानता है, उसका मेरेमें दृढ़ भक्तियोग हो जाता है' इस बातको सुनकर ही अर्जुनने भगवान्की स्तुति-प्रार्थना करके विभूतियाँ पूछी थीं, ऐसे ही भगवान्से 'मेरे एक अंशमें सारा संसार स्थित है' इस बातको सुनकर अर्जुनने विश्वरूप दिखानेके लिये प्रार्थना की है। अगर

परिशिष्ट भाव—भगवान् अपने शरीरके एक अंशमें सम्पूर्ण जगत् देखनेकी आज्ञा देते हैं। इससे सिद्ध होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण समग्र हैं और उनके एक अंशमें सम्पूर्ण संसार है। 'रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड' (मानस, बाल० २०१)—यह भगवान् प्रत्यक्ष दिखा रहे हैं! जब सम्पूर्ण संसार भगवान्के किसी एक अंशमें है, तो फिर भगवान्के सिवाय क्या बाकी रहा? सब कुछ भगवान् ही हुए! इसलिये भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि तू जो कुछ भी देखना चाहता है, वह सब तू मेरे विराटरूपमें देख सकता है। अर्जुन युद्धका परिणाम देखना चाहते थे, जिसको उन्होंने विराटरूपमें ही देख लिया (गीता—इसी अध्यायका छब्बीसवाँ-सत्ताईसवाँ श्लोक)।

सम्बन्ध—भगवान्ने तीन श्लोकोंमें चार बार 'पश्य' पदसे अपना रूप देखनेके लिये आज्ञा दी। इसके अनुसार ही अर्जुन आँखें फाड़-फाड़कर देखते हैं और देखना चाहते भी हैं; परन्तु अर्जुनको कुछ भी नहीं दीखता। इसलिये अब भगवान् आगेके श्लोकमें अर्जुनको न दीखनेका कारण बताते हुए उनको दिव्यचक्षु देकर विश्वरूप देखनेकी आज्ञा देते हैं।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा ।

दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥ ८ ॥

तु	= परन्तु	एव	= ही	ददामि	= देता हूँ,
अनेन	= (तू) इस	न	= नहीं		(जिससे
स्वचक्षुषा	= अपनी	शक्यसे	= सकता,		तू)
	आँख-	ते	= (इसलिये मैं)	मे	= मेरी
	(चर्मचक्षु-) से		तुझे	ऐश्वरम्	= ईश्वरीय
माम्	= मुझे	दिव्यम्	= दिव्य	योगम्	= सामर्थ्यको
द्रष्टुम्	= देख	चक्षुः	= चक्षु	पश्य	= देख ।

व्याख्या—‘न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा’— तुम्हारे जो चर्मचक्षु हैं, इनकी शक्ति बहुत अल्प और सीमित है। प्राकृत होनेके कारण ये चर्मचक्षु केवल प्रकृतिके तुच्छ कार्यको ही देख सकते हैं अर्थात् प्राकृत मनुष्य, पशु, पक्षी आदिके रूपोंको, उनके भेदोंको तथा धूप-छाया आदिके रूपोंको ही देख सकते हैं। परन्तु वे मन-बुद्धि-इन्द्रियोंसे अतीत मेरे रूपको नहीं देख सकते।

‘दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्’— मैं तुझे अतीन्द्रिय, अलौकिक रूपको देखनेकी सामर्थ्यवाले दिव्यचक्षु देता हूँ अर्थात् तेरे इन चर्मचक्षुओंमें ही दिव्य शक्ति प्रदान करता हूँ, जिससे तू अतीन्द्रिय, अलौकिक पदार्थ भी देख सके और साथ-साथ उनकी दिव्यताको भी देख सके।

यद्यपि दिव्यता देखना नेत्रका विषय नहीं है, प्रत्युत बुद्धिका विषय है, तथापि भगवान् कहते हैं मेरे दिये हुए दिव्यचक्षुओंसे तू दिव्यताको अर्थात् मेरे ईश्वर-सम्बन्धी अलौकिक प्रभावको भी देख सकेगा। तात्पर्य है कि मेरा विराटरूप देखनेके लिये दिव्यचक्षुओंकी आवश्यकता है।

‘पश्य’ क्रियाके दो अर्थ होते हैं—बुद्धि-(विवेक-) से देखना और नेत्रोंसे देखना। नवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें भगवान्ने ‘पश्य मे योगमैश्वरम्’ कहकर बुद्धिके द्वारा देखने-(जानने-)की बात कही थी। अब यहाँ ‘पश्य मे योगमैश्वरम्’ कहकर नेत्रोंके द्वारा देखनेकी बात कहते हैं।

विशेष बात

जैसे किसी जगह ‘श्रीमद्भगवद्गीता’—ऐसा लिखा हुआ है। जिनको वर्णमालाका बिलकुल ज्ञान नहीं है, उनको तो इसमें केवल काली-काली लकीरें दीखती हैं और जिनको वर्णमालाका ज्ञान है, उनको इसमें अक्षर दीखते हैं। परन्तु जो पढ़ा-लिखा है और जिसको गीताका गहरा मनन है, उसको ‘श्रीमद्भगवद्गीता’—ऐसा लिखा हुआ दीखते ही गीताके अध्यायोंकी, श्लोकोंकी, भावोंकी सब बातें दीखने लग जाती हैं। ऐसे ही अर्जुनको जब भगवान्ने दिव्यचक्षु दिये, तब उनको अलौकिक विश्वरूप तथा उसकी दिव्यता भी दीखने लगी, जो कि साधारण बुद्धिका विषय नहीं है। यह सब सामर्थ्य भगवत्प्रदत्त दिव्यचक्षुकी ही थी।

परिशिष्ट भाव—‘पश्य’ क्रियाके दो अर्थ होते हैं—जानना और देखना। नवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें ‘पश्य मे योगमैश्वरम्’ पदोंसे भगवान्को जाननेकी बात आयी है और यहाँ ‘पश्य मे योगमैश्वरम्’ पदोंसे भगवान्के विराटरूपको

अब यहाँ एक शंका होती है कि जब अर्जुनने चौथे श्लोकमें कहा कि अगर मैं आपके विश्वरूपको देख सकता हूँ तो आप अपने विश्वरूपको दिखा दीजिये, तब उसके उत्तरमें भगवान्को यह आठवाँ श्लोक कहना चाहिये था कि तू अपने इन चर्मचक्षुओंसे मेरे विश्वरूपको नहीं देख सकता, इसलिये मैं तेरेको दिव्यचक्षु देता हूँ। परन्तु भगवान्ने वहाँ ऐसा नहीं कहा, प्रत्युत दिव्यचक्षु देनेसे पहले ही ‘पश्य-पश्य’ कहकर बार-बार देखनेकी आज्ञा दी। जब अर्जुनको दीखा नहीं, तब उनको न दीखनेका कारण बताया और फिर दिव्यचक्षु देकर उसका निराकरण किया। अतः इतनी झंझट भगवान्ने की ही क्यों ?

साधकपर भगवान्की कृपाका क्रमशः कैसे विस्तार होता है, यह बतानेके लिये ही भगवान्ने ऐसा किया है; क्योंकि भगवान्का ऐसा ही स्वभाव है। भगवान् अत्यधिक कृपालु हैं। उन कृपासागरकी कृपाका कभी अन्त नहीं आता। भक्तोंपर कृपा करनेके उनके विचित्र-विचित्र ढंग हैं। जैसे, पहले तो भगवान्ने अर्जुनको उपदेश दिया। उपदेशके द्वारा अर्जुनके भीतरके भावोंका परिवर्तन कराकर उनको अपनी विभूतियोंका ज्ञान कराया। उन विभूतियोंको जाननेसे अर्जुनमें एक विलक्षणता आ गयी, जिससे उन्होंने भगवान्से कहा कि आपके अमृतमय वचन सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं हो रही है। विभूतियोंका वर्णन करके अन्तमें भगवान्ने कहा कि ऐसे (तरह-तरहकी विभूतियोंवाले) अनन्त ब्रह्माण्ड मेरे एक अंशमें पड़े हुए हैं। जिसके एक अंशमें अनन्त ब्रह्माण्ड हैं, उस विराटरूपको देखनेके लिये अर्जुनकी इच्छा हुई और इसके लिये उन्होंने प्रार्थना की। इसपर भगवान्ने अपना विराटरूप दिखाया और उसको देखनेके लिये बार-बार आज्ञा दी। परन्तु अर्जुनको विराटरूप दीखा नहीं। तब उनको भगवान्ने दिव्यचक्षु प्रदान किये। सारांश यह हुआ कि भगवान्ने ही विराटरूप देखनेकी जिज्ञासा प्रकट की। जिज्ञासा प्रकट करके विराटरूप दिखानेकी इच्छा प्रकट की। इच्छा प्रकट करनेपर विराटरूप दिखाया। अर्जुनको नहीं दीखा तो दिव्यचक्षु देकर इसकी पूर्ति की। तात्पर्य यह निकला कि भगवान्के शरण होनेपर शरणागतका सब काम करनेकी जिम्मेवारी भगवान् अपने ऊपर ले लेते हैं।

देखनेकी बात आयी है। तात्पर्य है कि जो जाननेमें आता है, वह भी भगवान् है और जो देखनेमें आता है, वह भी भगवान् है। भगवान्के सिवाय कुछ भी नहीं है। इस ग्यारहवें अध्यायमें भगवान्के अलौकिक रूपको देखनेकी विलक्षणता है, विवेचनकी विलक्षणता नहीं है। इसलिये गीताके अन्तमें भी संजयने एक तो 'संवाद' की विलक्षणता कही है और एक 'रूप' की विलक्षणता कही है (अठारहवें अध्यायका छिहत्तरवाँ-सतहत्तरवाँ श्लोक)।

भगवान्का विराटरूप अलौकिक था, इसलिये उसको देखनेके लिये भगवान्ने अर्जुनको अलौकिक चक्षु दिये।

सम्बन्ध—दिव्यचक्षु प्राप्त करके अर्जुनने भगवान्का कैसा रूप देखा, यह बात संजय धृतराष्ट्रसे आगेके श्लोकमें कहते हैं।

सञ्जय उवाच

**एवमुक्त्वा ततो राजन्महायोगेश्वरो हरिः ।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥ १ ॥**

संजय बोले—

राजन्	= हे राजन्!	महायोगेश्वरः	= महायोगेश्वर	परमम्	= परम
एवम्	= ऐसा	हरिः	= भगवान्	ऐश्वरम्	= ऐश्वर
उक्त्वा	= कहकर		श्रीकृष्णने	रूपम्	= विराटरूप
ततः	= फिर	पार्थाय	= अर्जुनको	दर्शयामास	= दिखाया।*

व्याख्या—एवमुक्त्वा ततो परमं रूपमैश्वरम्—
पूर्वश्लोकमें भगवान्ने जो यह कहा था कि 'तू अपने चर्मचक्षुओंसे मुझे नहीं देख सकता, इसलिये मैं तेरेको दिव्यचक्षु देता हूँ, जिससे तू मेरे ईश्वर-सम्बन्धी योगको देख', उसीका संकेत यहाँ संजयने 'एवमुक्त्वा' पदसे किया है।

चौथे श्लोकमें अर्जुनने भगवान्को 'योगेश्वर' कहा और यहाँ संजय भगवान्को 'महायोगेश्वर' कहते हैं। इसका तात्पर्य है कि भगवान्ने अर्जुनकी प्रार्थनासे बहुत अधिक अपना विश्वरूप दिखाया। भक्तकी थोड़ी-सी भी वास्तविक रुचि भगवान्की तरफ होनेपर भगवान् अपनी

अपार शक्तिसे उसकी पूर्ति कर देते हैं।

तीसरे श्लोकमें अर्जुनने जिस रूपके लिये 'रूपमैश्वरम्' कहा, उसी रूपके लिये यहाँ संजय 'परमं रूपमैश्वरम्' कहते हैं। इसका तात्पर्य है कि भगवान्का विश्वरूप बहुत ही विलक्षण है। सम्पूर्ण योगोंके महान् ईश्वर भगवान् श्रीकृष्णने ऐसा विलक्षण, अलौकिक, अद्भुत विश्वरूप दिखाया, जिसको धैर्यशाली, जितेन्द्रिय, शूरवीर और भगवान्से प्राप्त दिव्यदृष्टिवाले अर्जुनको भी दुर्निरीक्ष्य कहना पड़ा (सत्रहवाँ श्लोक) और भयभीत होना पड़ा (पैंतालीसवाँ श्लोक), तथा भगवान्को भी 'व्यपेतभीः' कहकर अर्जुनको आश्वासन देना पड़ा (उनचासवाँ श्लोक)।

परिशिष्ट भाव—भगवान्को 'महायोगेश्वर' कहनेका तात्पर्य है कि भगवान् सम्पूर्ण योगोंके ईश्वर हैं। ऐसा कोई भी योग नहीं है, जिसके ईश्वर (मालिक) भगवान् न हों अर्थात् सब योग भगवान्के ही अन्तर्गत हैं।

अर्जुनने तो भगवान्को 'योगेश्वर' कहा था (इसी अध्यायका चौथा श्लोक), पर संजय भगवान्को 'महायोगेश्वर' कहते हैं। कारण कि संजय भगवान्को पहलेसे ही अर्जुनसे ज्यादा जानते थे। संजयसे भी ज्यादा वेदव्यासजी भगवान्को जानते थे। वेदव्यासजीकी कृपासे ही संजयने भगवान् और अर्जुनका संवाद सुना—'व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम्' (गीता १८।७५)। वेदव्यासजीसे भी ज्यादा भगवान्को स्वयं भगवान् ही जानते हैं (गीता—दसवें अध्यायका दूसरा और पन्द्रहवाँ श्लोक)।

सम्बन्ध—अब संजय भगवान्के उस परम ऐश्वर-रूपका वर्णन आगेके दो श्लोकोंमें करते हैं।

* संजयको भी वेदव्यासजी महाराजसे दिव्यदृष्टि मिली हुई थी, इसलिये अर्जुनके साथ-ही-साथ उन्होंने भी भगवान्के विश्वरूपके दर्शन किये थे (गीता—अठारहवें अध्यायका सतहत्तरवाँ श्लोक)। अब संजय उसी विश्वरूपका धृतराष्ट्रसे वर्णन करते हैं।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
 अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम् ॥ १० ॥
 दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
 सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ ११ ॥

अनेकवक्त्रनयनम् = जिनके अनेक मुख और नेत्र हैं,
 अनेकाद्भुतदर्शनम् = अनेक तरहके अद्भुत दर्शन हैं,
 अनेकदिव्याभरणम् = अनेक अलौकिक आभूषण हैं,
 दिव्यानेकोद्यतायुधम् = हाथोंमें उठाये हुए अनेक दिव्य
 आयुध हैं
 दिव्यमाल्याम्बरधरम् = (तथा) जिनके गलेमें दिव्य
 मालाएँ हैं, जो अलौकिक वस्त्र
 पहने हुए हैं,

दिव्यगन्धानुलेपनम् = जिनके ललाट तथा शरीरपर
 दिव्य चन्दन, कुंकुम आदि
 लगा हुआ है,
 सर्वाश्चर्यमयम् = ऐसे सम्पूर्ण आश्चर्यमय,
 अनन्तम् = अनन्त रूपोंवाले (तथा)
 विश्वतोमुखम् = सब तरफ मुखोंवाले
 देवम् = देव-(अपने दिव्य स्वरूप-) को
 (भगवान्ने दिखाया) ।

व्याख्या—‘अनेकवक्त्रनयनम्’—विराटरूपसे प्रकट हुए
 भगवान्के जितने मुख और नेत्र दीख रहे हैं, वे सब-के-
 सब दिव्य हैं। विराटरूपमें जितने प्राणी दीख रहे हैं, उनके
 मुख, नेत्र, हाथ, पैर आदि सब-के-सब अंग विराटरूप
 भगवान्के हैं। कारण कि भगवान् स्वयं ही विराटरूपसे
 प्रकट हुए हैं।

‘अनेकाद्भुतदर्शनम्’—भगवान्के विराटरूपमें जितने
 रूप दीखते हैं, जितनी आकृतियाँ दीखती हैं, जितने रंग
 दीखते हैं, जितनी उनकी विचित्र रूपसे बनावट दीखती
 है, वह सब-की-सब अद्भुत दीख रही है।

‘अनेकदिव्याभरणम्’—विराटरूपमें दीखनेवाले अनेक
 रूपोंके हाथोंमें, पैरोंमें, कानोंमें, नाकोंमें और गलोंमें जितने
 गहने हैं, आभूषण हैं, वे सब-के-सब दिव्य हैं। कारण कि
 भगवान् स्वयं ही गहनोंके रूपमें प्रकट हुए हैं।

‘दिव्यानेकोद्यतायुधम्’—विराटरूप भगवान्ने अपने
 हाथोंमें चक्र, गदा, धनुष, बाण, परिघ आदि अनेक
 प्रकारके जो आयुध (अस्त्र-शस्त्र) उठा रखे हैं, वे सब-
 के-सब दिव्य हैं।

‘दिव्यमाल्याम्बरधरम्’—विराटरूप भगवान्ने गलेमें
 फूलोंकी, सोनेकी, चाँदीकी, मोतियोंकी, रत्नोंकी, गुंजाओं
 आदिकी अनेक प्रकारकी मालाएँ धारण कर रखी हैं। वे
 सभी दिव्य हैं। उन्होंने अपने शरीरोंपर लाल, पीले, हरे,
 सफेद, कपिश आदि अनेक रंगोंके वस्त्र पहन रखे हैं, जो
 सभी दिव्य हैं।

‘दिव्यगन्धानुलेपनम्’—विराटरूप भगवान्ने ललाटपर

कस्तूरी, चन्दन, कुंकुम आदि गन्धके जितने तिलक
 किये हैं तथा शरीरपर जितने लेप किये हैं, वे सब-के-
 सब दिव्य हैं।

‘सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्’—इस प्रकार
 देखते ही चकित कर देनेवाले, अनन्तरूपवाले तथा चारों
 तरफ मुख-ही-मुखवाले अपने परम ऐश्वर्यमय रूपको
 भगवान्ने अर्जुनको दिखाया।

जैसे, कोई व्यक्ति दूर बैठे ही अपने मनसे
 चिन्तन करता है कि मैं हरिद्वारमें हूँ तथा गंगाजीमें
 स्नान कर रहा हूँ, तो उस समय उसको गंगाजी, पुल,
 घाटपर खड़े स्त्री-पुरुष आदि दीखने लगते हैं तथा मैं
 गंगाजीमें स्नान कर रहा हूँ—ऐसा भी दीखने लगता है।
 वास्तवमें वहाँ न हरिद्वार है और न गंगाजी हैं; परन्तु उसका
 मन ही उन सब रूपोंमें बना हुआ उसको दीखता है। ऐसे
 ही एक भगवान् ही अनेक रूपोंमें, उन रूपोंमें पहने हुए
 गहनोंके रूपमें, अनेक प्रकारके आयुधोंके रूपमें, अनेक
 प्रकारकी मालाओंके रूपमें, अनेक प्रकारके वस्त्रोंके
 रूपमें प्रकट हुए हैं। इसलिये भगवान्के विराटरूपमें सब
 कुछ दिव्य है।

श्रीमद्भागवतमें आता है कि जब ब्रह्माजी बछड़ों और
 ग्वालबालोंको चुराकर ले गये, तब भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं
 ही बछड़े और ग्वालबाल बन गये। बछड़े और ग्वालबाल
 ही नहीं, प्रत्युत उनके बेंत, सींग, बाँसुरी, वस्त्र, आभूषण
 आदि भी भगवान् स्वयं ही बन गये (श्रीमद्भाग०, दसवाँ
 स्कन्ध, तेरहवाँ अध्याय, उन्नीसवाँ श्लोक)।

परिशिष्ट भाव—दूसरे अध्यायमें तो भगवान्के अंश जीवका सब कुछ आश्चर्यमय बताया गया है (गीता—दूसरे अध्यायका उनतीसवाँ श्लोक), यहाँ भगवान्का सब कुछ आश्चर्यमय बताते हैं। भगवान्को ज्यों देखें, त्यों—ही विलक्षणता दीखती चली जाती है। भगवान्की विलक्षणता अनन्त है।

सम्बन्ध—अब संजय विश्वरूपके प्रकाशका वर्णन करते हैं।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता ।

यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥ १२ ॥

दिवि	= (अगर) आकाशमें	सा	= उन सबका	भासः	= प्रकाशके
युगपत्	= एक साथ	भाः	= प्रकाश (मिलकर)	सदृशी	= समान
सूर्यसहस्रस्य	= हजारों सूर्योका	तस्य	= उस	यदि	= शायद ही
उत्थिता	= उदय	महात्मनः	= महात्मा-(विराटरूप	स्यात्	= हो अर्थात् नहीं
भवेत्	= हो जाय, (तो भी)		परमात्मा-) के		हो सकता।

व्याख्या—‘दिवि सूर्यसहस्रस्य तस्य महात्मनः’—जैसे आकाशमें हजारों तारे एक साथ उदित होनेपर भी उन सबका मिला हुआ प्रकाश एक चन्द्रमाके प्रकाशके सदृश नहीं हो सकता और हजारों चन्द्रमाओंका मिला हुआ प्रकाश एक सूर्यके प्रकाशके सदृश नहीं हो सकता, ऐसे ही आकाशमें हजारों सूर्य एक साथ उदित होनेपर भी उन सबका मिला हुआ प्रकाश विराट् भगवान्के प्रकाशके सदृश नहीं हो सकता। तात्पर्य यह हुआ कि हजारों सूर्योका प्रकाश भी विराट् भगवान्के प्रकाशका उपमेय नहीं हो सकता। इस प्रकार जब हजारों सूर्योके प्रकाशको उपमेय बनानेमें भी दिव्यदृष्टिवाले संजयको

संकोच होता है, तब वह प्रकाश विराटरूप भगवान्के प्रकाशका उपमान हो ही कैसे सकता है! कारण कि सूर्यका प्रकाश भौतिक है, जब कि विराट् भगवान्का प्रकाश दिव्य है। भौतिक प्रकाश कितना ही बड़ा क्यों न हो, दिव्य प्रकाशके सामने वह तुच्छ ही है। भौतिक प्रकाश और दिव्य प्रकाशकी जाति अलग-अलग होनेसे उनकी आपसमें तुलना नहीं की जा सकती। हाँ, अंगुलिनिर्देशकी तरह भौतिक प्रकाशसे दिव्य प्रकाशका संकेत किया जा सकता है। यहाँ संजय भी हजारों सूर्योके भौतिक प्रकाशकी कल्पना करके विराटरूप भगवान्के प्रकाश-(तेज-) का लक्ष्य कराते हैं।

परिशिष्ट भाव—हजारों सूर्योका प्रकाश मिलकर भी भगवान्के प्रकाशकी बराबरी नहीं कर सकता; क्योंकि सूर्यमें जो तेज है, वह भी भगवान्से ही आया है (गीता—पन्द्रहवें अध्यायका बारहवाँ श्लोक)। अगर हजारों सूर्योका प्रकाश हो तो भी है तो भौतिक ही, जबकि भगवान्का प्रकाश भौतिक नहीं है, प्रत्युत दिव्य है।

सम्बन्ध—पीछेके श्लोकोंमें विश्वरूप भगवान्के दिव्यरूप, अवयव और तेजका वर्णन करके अब संजय अर्जुनद्वारा विश्वरूपका दर्शन करनेकी बात कहते हैं।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा ।

अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा ॥ १३ ॥

तदा	= उस समय	तत्र	= उस	प्रविभक्तम्	= विभागोंमें विभक्त
पाण्डवः	= अर्जुनने	शरीरे	= शरीरमें	कृत्स्नम्	= सम्पूर्ण
देवदेवस्य	= देवोंके देव	एकस्थम्	= एक जगह स्थित	जगत्	= जगत्को
	भगवान्के	अनेकधा	= अनेक प्रकारके	अपश्यत्	= देखा।

व्याख्या—तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा— अनेक प्रकारके विभागोंमें विभक्त अर्थात् ये देवता हैं, ये मनुष्य हैं, ये पशु-पक्षी हैं, यह पृथ्वी है, ये समुद्र हैं, यह आकाश है, ये नक्षत्र हैं, आदि-आदि विभागोंके सहित (संकुचित नहीं, प्रत्युत विस्तारसहित) सम्पूर्ण चराचर जगत्को भगवान्के शरीरके भी एक देशमें अर्जुनने भगवान्के दिये हुए दिव्यचक्षुओंसे प्रत्यक्ष देखा। तात्पर्य यह हुआ कि भगवान् श्रीकृष्णके छोटे-से शरीरके भी एक अंशमें चर-अचर, स्थावर-जंगमसहित सम्पूर्ण संसार है। वह संसार भी अनेक ब्रह्माण्डोंके रूपमें, अनेक देवताओंके लोकोंके रूपमें, अनेक व्यक्तियों और पदार्थोंके रूपमें विभक्त और विस्तृत है—इस प्रकार अर्जुनने

परिशिष्ट भाव—अर्जुनने भगवान्के शरीरमें एक जगह स्थित जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज, स्वेदज; स्थावर-जंगम; नभचर-जलचर-थलचर; चौरासी लाख योनियाँ; चौदह भुवन आदि अनेक विभागोंमें विभक्त जगत्को देखा। जगत् भले ही अनन्त हो, पर है वह भगवान्के एक अंशमें ही (गीता—दसवें अध्यायका बयालीसवाँ श्लोक)! अर्जुन भगवान्के शरीरमें जहाँ भी दृष्टि डालते हैं, वहाँ उनको अनन्त जगत् दीखता है!

सम्बन्ध—भगवान्के अलौकिक विराटरूपको देखनेके बाद अर्जुनकी क्या दशा हुई—इसका वर्णन संजय आगेके श्लोकमें करते हैं।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः ।

प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत ॥ १४ ॥

ततः	= भगवान्के विश्व- रूपको देखकर	विस्मयाविष्टः	= बहुत चकित हुए (और)	कृताञ्जलिः	= (वे) हाथ जोड़कर
सः	= वे	हृष्टरोमाः	= आश्चर्यके कारण उनका शरीर	देवम्	= विश्वरूप देवको
धनञ्जयः	= अर्जुन		रोमांचित हो गया।	शिरसा	= मस्तकसे
				प्रणम्य	= प्रणाम करके
				अभाषत	= बोले।

व्याख्या—‘ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः’—अर्जुनने भगवान्के रूपके विषयमें जैसी कल्पना भी नहीं की थी, वैसा रूप देखकर उनको बड़ा आश्चर्य हुआ। भगवान्ने मेरेपर कृपा करके विलक्षण आध्यात्मिक बातें अपनी ओरसे बतायीं और अब कृपा करके मेरेको अपना विलक्षण रूप दिखा रहे हैं—इस

बातको लेकर अर्जुन प्रसन्नताके कारण रोमांचित हो उठे।

‘प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत’— भगवान्की विलक्षण कृपाको देखकर अर्जुनका ऐसा भाव उमड़ा कि मैं इसके बदलेमें क्या कृतज्ञता प्रकट करूँ? मेरे पास कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो मैं इनके अर्पण करूँ। मैं तो केवल

* श्रीमद्भागवतमें आया है कि एक बार यशोदाजीने कन्हैयाके छोटे-से मुखमें विश्वरूप देखा। इसपर विचार किया जाय तो अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंमेंसे एक ब्रह्माण्डमें एक भूमण्डल है। इस भूमण्डलमें भारतवर्ष, भारतवर्षमें एक माथुरमण्डल, माथुरमण्डलमें एक ब्रजमण्डल, ब्रजमण्डलमें एक नन्दागाँव, नन्दागाँवमें एक नन्दभवन और नन्दभवनमें एक जगह छोटा-सा कन्हैया खड़ा है। उस कन्हैयाको यशोदा मैया छड़ी लेकर धमकाती हैं कि ‘तूने माटी क्यों खायी? दिखा अपना मुख!’ कन्हैयाने अपना मुख खोलकर दिखाया तो उस छोटे-से मुखमें यशोदा मैयाने सम्पूर्ण जगत्को—नन्दागाँवको और नन्दभवनमें अपने-आपको भी देखा—‘सहात्मानम्’ (श्रीमद्भा० दसवाँ स्कन्ध, आठवाँ अध्याय, उनतालीसवाँ श्लोक)। इसी तरह अर्जुनने भी भगवान्के शरीरके किसी अंशमें सम्पूर्ण जगत्को देखा।

सिरसे प्रणाम ही कर सकता हूँ अर्थात् अपने-जोड़कर और सिर झुकाकर प्रणाम करते हुए विश्वरूप आपको अर्पित ही कर सकता हूँ। अतः अर्जुन हाथ भगवान्की स्तुति करने लगे।

सम्बन्ध—अर्जुन विराटरूप भगवान्की जिस विलक्षणताको देखकर चकित हुए, उसका वर्णन आगेके तीन श्लोकोंमें करते हुए भगवान्की स्तुति करते हैं।

अर्जुन उवाच

**पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वास्तथा भूतविशेषसङ्घान् ।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥ १५ ॥**

अर्जुन बोले—

देव	= हे देव! (मैं)	भूतविशेष-	इंशम्	= शंकरजीको,	
तव	= आपके	सङ्घान्	= प्राणियोंके विशेष-	सर्वान्	= सम्पूर्ण
देहे	= शरीरमें		विशेष समुदायोंको	ऋषीन्	= ऋषियोंको
सर्वान्	= सम्पूर्ण	च	= और	च	= और
देवान्	= देवताओंको	कमलासनस्थम्	= कमलासन-	दिव्यान्	= दिव्य
तथा	= तथा		पर बैठे हुए	उरगान्	= सर्पोंको
		ब्रह्माणम्	= ब्रह्माजीको,	पश्यामि	= देख रहा हूँ।

व्याख्या—‘पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वास्तथा भूतविशेषसङ्घान्’—अर्जुनकी भगवत्प्रदत्त दिव्य दृष्टि इतनी विलक्षण है कि उनको देवलोक भी अपने सामने दीख रहे हैं। इतना ही नहीं, उनको सब-की-सब त्रिलोकी दिख रही है। केवल त्रिलोकी ही नहीं, प्रत्युत त्रिलोकीके उत्पादक (ब्रह्मा), पालक (विष्णु) और संहारक (महेश) भी प्रत्यक्ष दीख रहे हैं। अतः अर्जुन वर्णन करते हैं कि मैं सम्पूर्ण देवोंको, प्राणियोंके समुदायोंको और ब्रह्मा तथा शंकरको देख रहा हूँ।

‘ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थम्’—अर्जुन कहते हैं कि मैं कमलके ऊपर स्थित ब्रह्माजीको देखता हूँ—इससे सिद्ध होता है कि अर्जुन कमलके नालको और नालके उद्गम-स्थान अर्थात् मूल आधार भगवान् विष्णुको (जो कि शेषशय्यापर सोये हुए हैं) भी देख रहे हैं। इसके सिवाय भगवान् शंकरको, उनके कैलास पर्वतको और कैलास पर्वतपर स्थित उनके निवासस्थान वटवृक्षको भी अर्जुन देख रहे हैं।

‘ऋषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्’—पृथ्वीपर रहनेवाले जितने भी ऋषि हैं, उनको तथा पाताललोकमें रहनेवाले दिव्य सर्पोंको भी अर्जुन देख रहे हैं।

इस श्लोकमें अर्जुनके कथनसे यह सिद्ध होता है कि

उन्हें स्वर्ग, मृत्यु और पाताल—यह त्रिलोकी अलग-अलग नहीं दीख रही है; किन्तु विभागसहित एक साथ एक जगह ही दीख रही है—‘प्रविभक्तमनेकधा’ (गीता ११।१३)। उस त्रिलोकीसे जब अर्जुनकी दृष्टि हटती है, तब जिनको ब्रह्मलोक, कैलास और वैकुण्ठलोक कहते हैं, वे अधिकारियोंके अभीष्ट लोक तथा उनके मालिक (ब्रह्मा, शंकर और विष्णु) भी अर्जुनको दीखते हैं। यह सब भगवत्प्रदत्त दिव्यदृष्टिका ही प्रभाव है।

विशेष बात

जब भगवान्ने कहा कि यह सम्पूर्ण जगत् मेरे किसी एक अंशमें है, तब अर्जुन उसे दिखानेकी प्रार्थना करते हैं। अर्जुनकी प्रार्थनापर भगवान् कहते हैं कि तू मेरे शरीरमें एक जगह स्थित चराचर जगत्को देख—‘इह एकस्थं मम देहे’ (११।७)। वेदव्यासजीद्वारा प्राप्त दिव्यदृष्टिवाले संजय भी यही बात कहते हैं कि अर्जुनने भगवान्के शरीरमें एक जगह स्थित सम्पूर्ण जगत्को देखा—‘तत्र एकस्थं देवदेवस्य शरीरे’ (११।१३)। यहाँ अर्जुन कहते हैं कि मैं आपके शरीरमें सम्पूर्ण भूतसमुदाय आदिको देखता हूँ—‘तव देव देहे।’ इस प्रकार भगवान् और संजयके वचनोंमें तो ‘एकस्थम्’ (एक जगह स्थित) पद आया है, पर अर्जुनके वचनोंमें यह पद नहीं आया है। इसका कारण

यह है कि अर्जुनकी दृष्टि भगवान्के शरीरमें जिस-किसी एक स्थानपर गयी, वहीं उनको भगवान्का विश्वरूप दिखायी देने लग गया। उस समय अर्जुनकी दृष्टि सारथिरूप भगवान्के शरीरकी तरफ गयी ही नहीं। अर्जुनकी दृष्टि जहाँ गयी, वहीं अनन्त सृष्टियाँ दीखने लग गयीं; अतः अर्जुनकी दृष्टि उधर ही बह गयी। इसलिये अर्जुन 'एकस्थम्' नहीं कह सके। वे 'एकस्थम्' तो तभी कह सकते हैं, जब विश्वरूप दीखनेके साथ-साथ सारथिरूपसे भगवान्का शरीर भी दीखे। अर्जुनको केवल विश्वरूप ही दीख रहा है, इसलिये वे विश्वरूपका ही वर्णन कर रहे हैं। उनको विश्वरूप इतना अपार दीख रहा है, जिसकी देश या कालसे कोई सीमा नहीं दीखती। तात्पर्य यह हुआ कि जब अर्जुनकी दृष्टिमें विश्वरूपका ही अन्त नहीं आ रहा है, तब उनकी दृष्टि सारथिरूपसे बैठे भगवान्की तरफ जाय ही कैसे ?

भगवान् तो अपने शरीरके एक देशमें विश्वरूप दिखा रहे हैं, इसलिये उन्होंने 'एकस्थम्' कहा है। संजय सारथिरूपमें बैठे हुए भगवान्को और उनके शरीरके एक देशमें स्थित विश्वरूपको देख रहे हैं, इसलिये संजयने 'एकस्थम्' पद दिया है^१।

अब प्रश्न यह होता है कि भगवान् और संजयकी दृष्टिमें वह एक जगह कौन-सी थी, जिसमें अर्जुन विश्वरूप देख रहे थे? इसका उत्तर यह है कि भगवान्के शरीरमें अमुक जगह ही अर्जुनने विश्वरूप देखा था, इसका निर्णय नहीं किया जा सकता। कारण कि भगवान्के शरीरके एक-एक रोमकूपमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड विराजमान हैं^२। भगवान्ने भी यह कहा था कि मेरे शरीरके एक देशमें तू चराचरसहित सम्पूर्ण जगत्को देख ले (इसी अध्यायका सातवाँ श्लोक)। इसलिये जहाँ अर्जुनकी दृष्टि एक बार पड़ी, वहीं उनको सम्पूर्ण विश्वरूप दीखने लग गया।

परिशिष्ट भाव—अर्जुन भगवान्के विराटरूपमें देवता, प्राणी, ब्रह्माजी, विष्णु, शंकरजी, ऋषि, नाग—इन सबका समूह देखते हैं। तात्पर्य है कि अर्जुन मृत्युलोकमें बैठे हुए ही देवलोक, ब्रह्मलोक, वैकुण्ठ, कैलास, नागलोक आदि लोक देख रहे हैं। अतः जो कुछ भी कहने-सुननेमें आता है, वह सब-का-सब भगवान्के एक अंशमें स्थित है। भगवान् साकार हों या निराकार हों, बड़े-से-बड़े हों या छोटे-से-छोटे हों, उनका अनन्तपना नहीं मिटता। सम्पूर्ण सृष्टि उनसे ही उत्पन्न होती है, उनमें ही रहती है और उनमें ही लीन हो जाती है, पर वे वैसे-के-वैसे ही रहते हैं!

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम् ।

नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥ १६ ॥

विश्वरूप	= हे विश्वरूप !	(तथा)	आदिम्	= आदिको,
विश्वेश्वर	= हे विश्वेश्वर !	सर्वतः	न	= न
त्वाम्	= आपको (मैं)	अनन्तरूपम्	मध्यम्	= मध्यको
अनेकबाहूदर-		रूपोंवाला	पुनः	= और
वक्त्रनेत्रम्	= अनेक हाथों, पेटों, मुखों और नेत्रोंवाला	पश्यामि	न	= न
		तव	अन्तम्	= अन्तको ही
		न	पश्यामि	= देख रहा हूँ।

१-भगवान् और संजयके वचनोंमें 'एकस्थम्' पद आनेसे यह मान लेना चाहिये कि अर्जुनने भी भगवान्के शरीरमें एक जगह ही सम्पूर्ण विश्वरूपको देखा।

२-(१) 'रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड' (मानस १। २०१)।

(२) क्वेदृग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्यावाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम् ॥ (श्रीमद्भा० १०। १४। ११)

'आपके एक-एक रोमछिद्रमें ऐसे अगणित ब्रह्माण्ड उसी प्रकार उड़ते-पड़ते रहते हैं, जिस प्रकार झरोखेकी जालीमेंसे आनेवाली सूर्यकी किरणोंमें रजके छोटे-छोटे परमाणु उड़ते हुए दिखायी देते हैं।'

व्याख्या—‘विश्वरूप’, ‘विश्वेश्वर’—इन दो सम्बोधनोंका तात्पर्य है कि मेरेको जो कुछ भी दीख रहा है, वह सब आप ही हैं और इस विश्वके मालिक भी आप ही हैं। सांसारिक मनुष्योंके शरीर तो जड होते हैं और उनमें शरीरी चेतन होता है; परन्तु आपके विराटरूपमें शरीर और शरीरी—ये दो विभाग नहीं हैं। विराटरूपमें शरीर और शरीरीरूपसे एक आप ही हैं। इसलिये विराटरूपमें सब कुछ चिन्मय-ही-चिन्मय है। तात्पर्य यह हुआ कि अर्जुन ‘विश्वरूप’ सम्बोधन देकर यह कह रहे हैं कि आप ही शरीर हैं और ‘विश्वेश्वर’ सम्बोधन देकर यह कह रहे हैं कि आप ही शरीरी (शरीरके मालिक) हैं।

‘अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रम्’—मैं आपके हाथोंकी तरफ देखता हूँ तो आपके हाथ भी अनेक हैं; आपके पेटकी तरफ देखता हूँ तो पेट भी अनेक हैं; आपके मुखकी तरफ देखता हूँ तो मुख भी अनेक हैं; और आपके नेत्रोंकी तरफ देखता हूँ तो नेत्र भी अनेक हैं। तात्पर्य है कि आपके हाथों, पेटों, मुखों और नेत्रोंका कोई अन्त नहीं है, सब-के-सब अनन्त हैं।

‘पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्’—आप देश, काल,

परिशिष्ट भाव—यहाँ भगवान्के विराटरूपकी अनन्तताका वर्णन हुआ है। भगवान्के एक अंशमें भी अनन्तता है। जैसे स्याहीमें किस जगह कौन-सी लिपि नहीं है? सोनेमें किस जगह कौन-सा गहना नहीं है? ऐसे ही भगवान्में क्या नहीं है? अर्थात् भगवान्में स्वाभाविक ही सब कुछ है।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम् ।

पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम् ॥ १७ ॥

त्वाम्	= (मैं) आपको	(आपको)	दुर्निरीक्ष्यम्	= नेत्रोंके द्वारा
किरीटिनम्	= किरीट (मुकुट),	तेजोराशिम्	= तेजकी राशि,	कठिनतासे देखे
गदिनम्	= गदा,	सर्वतः	= सब ओर	जानेयोग्य
चक्रिणम्	= चक्र (तथा शंख और पद्म)धारण किये हुए	दीप्तिमन्तम्	= प्रकाशवाले,	च
पश्यामि	= देख रहा हूँ।	दीप्तानलार्कद्युतिम्	= देदीप्यमान अग्नि तथा सूर्यके समान कान्तिवाले,	समन्तात्
				= सब तरफसे
				अप्रमेयम्
				= अप्रमेयस्वरूप (देख रहा हूँ)।

व्याख्या—‘किरीटिनं गदिनं चक्रिणं च’—आपको मैं किरीट, गदा और चक्र धारण किये हुए देख रहा हूँ। यहाँ ‘च’ पदसे शंख और पद्मको भी ले लेना चाहिये। इसका तात्पर्य ऐसा मालूम देता है कि अर्जुनको विश्वरूपमें भगवान् विष्णुका चतुर्भुजरूप भी दीख रहा है।

‘तेजोराशिम्’—आप तेजकी राशि हैं, मानो तेजका समूह-का-समूह (अनन्त तेज) इकट्ठा हो गया हो। इसका

वस्तु, व्यक्ति, पदार्थ आदिके रूपमें चारों तरफ अनन्त-ही-अनन्त दिखायी दे रहे हैं।

‘नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिम्’—आपका कहाँ अन्त है, इसका भी पता नहीं; आपका कहाँ मध्य है, इसका भी पता नहीं और आपका कहाँ आदि है, इसका भी पता नहीं।

सबसे पहले ‘नान्तम्’ कहनेका तात्पर्य यह मालूम देता है कि जब कोई किसीको देखता है, तब सबसे पहले उसकी दृष्टि उस वस्तुकी सीमापर जाती है कि यह कहाँतक है। जैसे, किसी पुस्तकको देखनेपर सबसे पहले उसकी सीमापर दृष्टि जाती है कि पुस्तककी लम्बाई-चौड़ाई कितनी है। ऐसे ही भगवान्के विराटरूपको देखनेपर अर्जुनकी दृष्टि सबसे पहले उसकी सीमा- (अन्त-) की ओर गयी। जब अर्जुनको उसका अन्त नहीं दीखा, तब उनकी दृष्टि मध्यभागपर गयी; फिर आदि- (आरम्भ-) की तरफ दृष्टि गयी, पर कहीं भी विराटरूपका अन्त, मध्य और आदिका पता नहीं लगा। इसलिये इस श्लोकमें ‘नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिम्’—यह क्रम रखा गया है।

पहले संजयने वर्णन किया है कि आकाशमें हजारों सूर्य एक साथ उदित होनेपर भी भगवान्के तेजकी बराबरी नहीं कर सकते (ग्यारहवें अध्यायका बारहवाँ श्लोक)। ऐसे आप प्रकाशस्वरूप हैं।

‘सर्वतो दीप्तिमन्तम्’—स्वयं प्रकाशस्वरूप होनेसे आप चारों तरफ प्रकाश कर रहे हैं।

‘पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद् दीप्तानलार्क-

द्युतिमप्रमेयम्—खूब देदीप्यमान अग्नि और सूर्यके समान आपकी कान्ति है। जैसे सूर्यके तेज प्रकाशके सामने आँखें चौंध जाती हैं, ऐसे ही आपको देखकर आँखें चौंध जाती हैं। अतः आप कठिनतासे देखे जानेयोग्य हैं। आपको ठीक तरहसे देख नहीं सकते।

[यहाँ एक बड़े आश्चर्यकी बात है कि भगवान्ने अर्जुनको दिव्यदृष्टि दी थी, पर वे दिव्यदृष्टिवाले अर्जुन

भी विश्वरूपको देखनेमें पूरे समर्थ नहीं हो रहे हैं! ऐसा देदीप्यमान भगवान्का स्वरूप है!]

आप सब तरफसे अप्रमेय (अपरिमित) हैं अर्थात् आप प्रमा-(माप-) के विषय नहीं हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि आदि कोई भी प्रमाण आपको बतानेमें काम नहीं करता; क्योंकि प्रमाणोंमें शक्ति आपकी ही है।

परिशिष्ट भाव—‘अप्रमेयम्’—परमात्माके सगुण-निर्गुण, साकार-निराकार सभी रूप अप्रमेय (अपरिमित) हैं और उनका अंश जीवात्मा भी अप्रमेय है—‘अनाशिनोऽप्रमेयस्य’ (गीता २। १८)। वे परमात्मा ज्ञानका विषय नहीं हैं; क्योंकि वे ज्ञानके भी ज्ञाता हैं—‘वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्’ (गीता १५। १५)।

‘दुर्निरीक्ष्यम्’—भगवान्के द्वारा प्रदत्त दिव्यदृष्टिसे भी अर्जुन भगवान्के विराटरूपको देखनेमें पूरे समर्थ नहीं हो रहे हैं! इससे सिद्ध होता है कि भगवान्की दी हुई शक्तिसे भी भगवान्को पूरा नहीं जान सकते। भगवान् भी अपनेको पूरा नहीं जानते, यदि जान जायँ तो वे अनन्त कैसे रहेंगे ?

सम्बन्ध—अब आगेके श्लोकमें अर्जुन भगवान्को निर्गुण-निराकार, सगुण-निराकार और सगुण-साकाररूपमें देखते हुए भगवान्की स्तुति करते हैं।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।

त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ १८ ॥

त्वम्	= आप (ही)	विश्वस्य	= सम्पूर्ण विश्वके	त्वम्	= (और) आप (ही)
वेदितव्यम्	= जाननेयोग्य	परम्	= परम	अव्ययः	= अविनाशी
परमम्	= परम	निधानम्	= आश्रय हैं,	सनातनः	= सनातन
अक्षरम्	= अक्षर(अक्षर- ब्रह्म) हैं,	त्वम्	= आप (ही)	पुरुषः	= पुरुष हैं (—ऐसा)
त्वम्	= आप (ही)	शाश्वतधर्म- गोप्ता	= सनातनधर्मके रक्षक हैं	मे	= मैं
अस्य	= इस			मतः	= मानता हूँ।

व्याख्या—‘त्वमक्षरं परमं वेदितव्यम्’—वेदों, शास्त्रों, पुराणों, स्मृतियों, सन्तोंकी वाणियों और तत्त्वज्ञ जीवन्मुक्त महापुरुषोंद्वारा जाननेयोग्य जो परमानन्दस्वरूप अक्षरब्रह्म है, जिसको निर्गुण-निराकार कहते हैं, वे आप ही हैं।

‘त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्’—देखने, सुनने और समझनेमें जो कुछ संसार आता है, उस संसारके परम आश्रय, आधार आप ही हैं। जब महाप्रलय होता है, तब सम्पूर्ण संसार कारणसहित आपमें ही लीन होता है और फिर महासर्गके आदिमें आपसे ही प्रकट होता है। इस तरह

आप इस संसारके परम निधान हैं। [इन पदोंसे अर्जुन सगुण-निराकारका वर्णन करते हुए स्तुति करते हैं।]

‘त्वं शाश्वतधर्मगोप्ता’—जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब आप ही अवतार लेकर अधर्मका नाश करके सनातनधर्मकी रक्षा करते हैं। [इन पदोंसे अर्जुन सगुण-साकारका वर्णन करते हुए स्तुति करते हैं।]

‘अव्ययः सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे’—अव्यय अर्थात् अविनाशी, सनातन, आदिरहित, सदा रहनेवाले उत्तम पुरुष आप ही हैं, ऐसा मैं मानता हूँ।

परिशिष्ट भाव—यहाँ ‘त्वमक्षरं परमं वेदितव्यम्’ पदोंसे निर्गुण-निराकारकी बात आयी है, ‘त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्’ पदोंसे सगुण-निराकारकी बात आयी है और ‘त्वं शाश्वतधर्मगोप्ता’ पदोंसे सगुण-साकारकी बात आयी है। तात्पर्य है कि निर्गुण-निराकार, सगुण-निराकार और सगुण-साकार—ये सब मिलकर भगवान्का समग्ररूप है, जिसको

जाननेपर फिर कुछ भी जानना बाकी नहीं रहता (गीता—सातवें अध्यायका दूसरा श्लोक); क्योंकि उसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं।

सम्बन्ध—पंद्रहवेंसे अठारहवें श्लोकतक आश्चर्यचकित करनेवाले देवरूपका वर्णन करके अब आगेके दो श्लोकोंमें अर्जुन उस विश्वरूपकी उग्रता, प्रभाव, सामर्थ्यका वर्णन करते हैं।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम् । पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम् ॥ १९ ॥

त्वाम् = आपको (मैं)	अनन्तबाहुम् = अनन्त	स्वतेजसा = अपने तेजसे
अनादिमध्यान्तम् = आदि, मध्य	भुजाओंवाले,	इदम् = इस
और अन्तसे	शशिसूर्यनेत्रम् = चन्द्र और सूर्य-	विश्वम् = संसारको
रहित,	रूप नेत्रोंवाले,	तपन्तम् = तपाते हुए
अनन्तवीर्यम् = अनन्त प्रभाव-	दीप्तहुताशवक्त्रम् = प्रज्वलित	पश्यामि = देख रहा हूँ।
शाली,	अग्निरूप मुखों-	

व्याख्या—‘अनादिमध्यान्तम्’—आप आदि, मध्य और अन्तसे रहित हैं अर्थात् आपकी कोई सीमा नहीं है।

सोलहवें श्लोकमें भी अर्जुनने कहा है कि मैं आपके आदि, मध्य और अन्तको नहीं देखता हूँ। वहाँ तो ‘देशकृत’ अनन्तताका वर्णन हुआ है और यहाँ ‘कालकृत’ अनन्तताका वर्णन हुआ है। तात्पर्य है कि देशकृत, कालकृत, वस्तुकृत आदि किसी तरहसे भी आपकी सीमा नहीं है। सम्पूर्ण देश, काल आदि आपके अन्तर्गत हैं, फिर आप देश, काल आदिके अन्तर्गत कैसे आ सकते हैं? अर्थात् देश, काल आदि किसीके भी आधारपर आपको मापा नहीं जा सकता।

‘अनन्तवीर्यम्’—आपमें अपार पराक्रम, सामर्थ्य, बल और तेज है। आप अनन्त, असीम, शक्तिशाली हैं।

‘अनन्तबाहुम्’—* आपकी कितनी भुजाएँ हैं, इसकी

कोई गिनती नहीं हो सकती। आप अनन्त भुजाओं-वाले हैं।

‘शशिसूर्यनेत्रम्’—संसारमात्रको प्रकाशित करनेवाले जो चन्द्र और सूर्य हैं, वे आपके नेत्र हैं। इसलिये संसार-मात्रको आपसे ही प्रकाश मिलता है।

‘दीप्तहुताशवक्त्रम्’—यज्ञ, होम आदिमें जो कुछ अग्निमें हवन किया जाता है, उन सबको ग्रहण करनेवाले देदीप्यमान अग्निरूप मुखवाले आप ही हैं।

‘स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्’—अपने तेजसे सम्पूर्ण विश्वको तपानेवाले आप ही हैं। तात्पर्य यह है कि जिन-जिन व्यक्तियों, वस्तुओं, परिस्थितियों आदिसे प्रतिकूलता मिल रही है, उन-उनसे ही सम्पूर्ण प्राणी संतप्त हो रहे हैं। संतप्त करनेवाले और संतप्त होनेवाले—दोनों एक ही विराटरूपके अंग हैं।

परिशिष्ट भाव—इस श्लोकका तात्पर्य है कि भगवान् सब तरहसे अनन्त हैं। उनके तेजसे तपनेवाला विश्व भगवान्से अलग नहीं है। अतः तपानेवाला और तपनेवाला—दोनों ही भगवान्के स्वरूप हैं।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः । दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन् ॥ २० ॥

* सोलहवें श्लोकमें अर्जुनने ‘अनेकबाहुदरवक्त्रनेत्रम्’ कहा और यहाँ भी ‘अनन्तबाहुम्’ कहते हैं, तो इसमें पुनरुक्ति-सी दीखती है। परन्तु वास्तवमें यह पुनरुक्ति नहीं है; क्योंकि वहाँ विराटरूप भगवान्के देवरूपका वर्णन है और यहाँ उग्ररूपका वर्णन है। उग्ररूपका वर्णन होनेसे ही यहाँ ‘विश्वमिदं तपन्तम्’ और आगेके (बीसवें) श्लोकमें ‘दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितम्’ पद आये हैं।

महात्मन्	= हे महात्मन्!	दिशः	= दिशाएँ	अद्भुतम्	= अद्भुत (और)
इदम्	= यह	एकेन	= एक	उग्रम्	= उग्र
द्यावापृथिव्योः	= स्वर्ग और पृथ्वीके	त्वया	= आपसे	रूपम्	= रूपको
अन्तरम्	= बीचका अन्तराल	हि	= ही	दृष्ट्वा	= देखकर
च	= और	व्याप्तम्	= परिपूर्ण हैं।	लोकत्रयम्	= तीनों लोक
सर्वाः	= सम्पूर्ण	तव	= आपके	प्रव्यथितम्	= व्यथित (व्याकुल)
		इदम्	= इस		हो रहे हैं।

व्याख्या—‘महात्मन्’—इस सम्बोधनका तात्पर्य है कि आपके स्वरूपके समान किसीका स्वरूप हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं और हो सकता भी नहीं। इसलिये आप ‘महात्मा’ अर्थात् महान् स्वरूपवाले हैं।

‘द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः’—स्वर्ग और पृथ्वीके बीचमें जितना अवकाश है, पोलाहट है, वह सब पोलाहट आपसे परिपूर्ण हो रही है।

पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण; पूर्व-उत्तरके बीचमें ‘ईशान’, उत्तर-पश्चिमके बीचमें ‘वायव्य’, पश्चिम-दक्षिणके बीचमें ‘नैऋत्य’ और दक्षिण-पूर्वके बीचमें ‘आग्नेय’ तथा ऊपर और नीचे—ये दसों दिशाएँ आपसे व्याप्त हैं अर्थात् इन सबमें आप-ही-आप विराजमान हैं।

‘दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितम्’—[उन्नीसवें श्लोकमें तथा बीसवें श्लोकके पूर्वार्धमें उग्ररूपका वर्णन करके अब बीसवें श्लोकके उत्तरार्धसे बाईसवें श्लोकतक अर्जुन उग्ररूपके परिणामका वर्णन करते हैं—] आपके इस अद्भुत, विलक्षण, अलौकिक, आश्चर्यजनक, महान् देदीप्यमान और भयंकर उग्ररूपको देखकर स्वर्ग, मृत्यु और पाताललोकमें रहनेवाले सभी प्राणी व्यथित हो रहे हैं, भयभीत हो रहे हैं।

यद्यपि इस श्लोकमें स्वर्ग और पृथ्वीकी ही बात आयी है (द्यावापृथिव्योः), तथापि अर्जुनद्वारा ‘लोकत्रयम्’ कहनेके अनुसार यहाँ पाताल भी ले सकते हैं। कारण कि अर्जुनकी दृष्टि भगवान्के शरीरके किसी एक देशमें जा रही है और वहाँ अर्जुनको जो दीख रहा है, वह दृश्य कभी पातालका है, कभी मृत्युलोकका है और कभी स्वर्गका है।

इस तरह अर्जुनकी दृष्टिके सामने सब दृश्य बिना क्रमके आ रहे हैं*।

यहाँपर एक शंका होती है कि अगर विराटरूपको देखकर त्रिलोकी व्यथित हो रही है, तो दिव्यदृष्टिके बिना त्रिलोकीने विराटरूपको कैसे देखा? भगवान्ने तो केवल अर्जुनको दिव्यदृष्टि दी थी। त्रिलोकीको विराटरूप देखनेके लिये दिव्यदृष्टि किसने दी? कारण कि प्राकृत चर्मचक्षुओंसे यह विराटरूप नहीं देखा जा सकता, जबकि ‘विश्वमिदं तपन्तम्’ (११।१९) और ‘लोकत्रयं प्रव्यथितम्’ पदोंसे विराटरूपको देखकर त्रिलोकीके संतप्त और व्यथित होनेकी बात अर्जुनने कही है।

इसका समाधान यह है कि संतप्त और व्यथित होनेवाली त्रिलोकी भी उस विराटरूपके अन्तर्गत ही है अर्थात् विराटरूपका ही अंग है। संजयने और भगवान्ने विराटरूपको एक देशमें देखनेकी बात (एकस्थम्) कही, पर अर्जुनने एक देशमें देखनेकी बात नहीं कही। कारण कि विराटरूप देखते हुए भगवान्के शरीरकी तरफ अर्जुनका खयाल ही नहीं गया। उनकी दृष्टि केवल विराटरूपकी तरफ ही बह गयी। जब सारथिरूप भगवान्के शरीरकी तरफ भी अर्जुनकी दृष्टि नहीं गयी, तब संतप्त और व्यथित होनेवाले इस लौकिक संसारकी तरफ अर्जुनकी दृष्टि कैसे जा सकती है? इससे सिद्ध होता है कि संतप्त होनेवाला और संतप्त करनेवाला तथा व्यथित होनेवाला और व्यथित करनेवाला—ये चारों उस विराटरूपके ही अंग हैं। अर्जुनको ऐसा दीख रहा है कि त्रिलोकी विराटरूपको देखकर व्यथित, भयभीत हो रही है, पर वास्तवमें (विराटरूपके अन्तर्गत)

* अर्जुनने स्वर्गसे पातालतक तथा पातालसे स्वर्गतक क्रमपूर्वक विश्वरूपको देखा हो, ऐसी बात नहीं है। अर्जुन भगवान्की दी हुई दिव्यदृष्टिसे स्वर्ग, भूमण्डल, पाताल आदि सबको एक साथ देख रहे हैं; और जैसे देख रहे हैं वैसे ही बोल रहे हैं—‘हे देव! मैं आपकी देहमें देवताओंको देख रहा हूँ। प्राणियोंके अलग-अलग समुदायोंको देख रहा हूँ, कमलपर विराजमान ब्रह्माजीको देख रहा हूँ, कैलासपर विराजमान शंकरको देख रहा हूँ, सम्पूर्ण ऋषियोंको देख रहा हूँ, दिव्य सर्पोंको देख रहा हूँ, (११।१५) आदि-आदि। अर्जुनको ऐसा कहनेमें तो देरी लगी है, पर ऐसा (सबको एक साथ) देखनेमें देरी नहीं लगी। इसलिये अर्जुनके वचनोंमें स्वर्ग, मृत्यु, पाताल आदि लोकोंका कोई क्रम नहीं है।

भयानक सिंह, व्याघ्र, साँप आदि जन्तुओंको और मृत्युको देखकर त्रिलोकी भयभीत हो रही है।

मार्मिक बात

देखने, सुनने और समझनेमें आनेवाला सम्पूर्ण संसार भगवान्के दिव्य विराटरूपका ही एक छोटा-सा अंग है। संसारमें जो जडता, परिवर्तनशीलता, अदिव्यता दीखती है, वह वस्तुतः दिव्य विराटरूपकी ही एक झलक है, एक लीला है। विराटरूपकी जो दिव्यता है, उसकी तो स्वतन्त्र सत्ता है, पर संसारकी जो अदिव्यता है, उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। अर्जुनको तो दिव्यदृष्टिसे भगवान्का विराटरूप दीखा, पर भक्तोंको भावदृष्टिसे यह संसार भगवत्स्वरूप दीखता है—‘वासुदेवः सर्वम्।’ तात्पर्य है कि जैसे बचपनमें बालकका कंकड़-पत्थरोंमें जो भाव

रहता है, वैसा भाव बड़े होनेपर नहीं रहता; बड़े होनेपर कंकड़-पत्थर उसे आकृष्ट नहीं करते, ऐसे ही भोगदृष्टि रहनेपर संसारमें जो भाव रहता है, वह भाव भोगदृष्टिके मिटनेपर नहीं रहता।

जिनकी भोगदृष्टि होती है, उनको तो संसार सत्य दीखता है, पर जिनकी भोगदृष्टि नहीं है, ऐसे महापुरुषोंको संसार भगवत्स्वरूप ही दीखता है। जैसे एक ही स्त्री बालकको माँके रूपमें, पिताको पुत्रीके रूपमें, पतिको पत्नीके रूपमें और सिंहको भोजनके रूपमें दीखती है, ऐसे ही यह संसार ‘चर्मदृष्टि’से सच्चा, ‘विवेकदृष्टि’से परिवर्तनशील, ‘भावदृष्टि’से भगवत्स्वरूप और ‘दिव्यदृष्टि’से विराटरूपका ही एक छोटा-सा अंग दीखता है।

परिशिष्ट भाव—इस श्लोकमें आये ‘त्वयैकेन’ पदका तात्पर्य है कि असंख्य रूपोंमें एक आप ही हैं—‘वासुदेवः सर्वम्’। आपके अनेक रूपोंकी कोई गणना नहीं कर सकता, पर उनमें हैं आप एक ही।

भगवान्में अनेक तरहकी अद्भुतता है। वे देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, रूप, ज्ञान, योग आदि सब दृष्टियोंसे अनन्त हैं। जिसको हमने देखा नहीं, सुना नहीं, जाना नहीं, समझा नहीं और जो हमारी कल्पनामें आया ही नहीं, वह सब विराटरूपके अन्तर्गत है।

सम्बन्ध—अब अर्जुनकी दृष्टिके सामने (विराटरूपमें) स्वर्गादि लोकोंका दृश्य आता है और वे उसका वर्णन आगेके दो श्लोकोंमें करते हैं।

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति ।

स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥ २१ ॥

अमी	= वे	प्राञ्जलयः	= हाथ जोड़े हुए	स्वस्ति	= ‘कल्याण हो! मंगल हो!’
हि	= ही		(आपके नामों और	इति	= ऐसा
सुरसङ्घाः	= देवताओंके समुदाय	गुणोंका)		उक्त्वा	= कहकर
त्वाम्	= आपमें	गृणन्ति	= कीर्तन कर रहे हैं।	पुष्कलाभिः	= उत्तम-उत्तम
विशन्ति	= प्रविष्ट हो रहे हैं।	महर्षि-		स्तुतिभिः	= स्तोत्रोंके द्वारा
केचित्	= (उनमेंसे) कई तो	सिद्धसङ्घाः	= महर्षियों और	त्वाम्	= आपकी
भीताः	= भयभीत होकर		सिद्धोंके समुदाय	स्तुवन्ति	= स्तुति कर रहे हैं।

व्याख्या—‘अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति’—जब अर्जुन स्वर्गमें गये थे, उस समय उनका जिन देवताओंसे परिचय हुआ था, उन्हीं देवताओंके लिये यहाँ अर्जुन कह रहे हैं कि वे ही देवतालोग आपके स्वरूपमें प्रविष्ट होते हुए दीख रहे हैं। ये सभी देवता आपसे ही उत्पन्न होते हैं, आपमें ही स्थित रहते हैं और आपमें ही प्रविष्ट होते हैं।

‘केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति’—परन्तु उन

देवताओंमेंसे जिनकी आयु अभी ज्यादा शेष है, ऐसे आजान देवता (विराटरूपके अन्तर्गत) नृसिंह आदि भयानक रूपोंको देखकर भयभीत होकर हाथ जोड़े हुए आपके नाम, रूप, लीला, गुण आदिका गान कर रहे हैं।

यद्यपि देवतालोग नृसिंह आदि अवतारोंको देखकर और कालरूप मृत्युसे भयभीत होकर ही भगवान्का गुणगान कर

रहे हैं (जो सभी विराटरूपके ही अंग हैं); परन्तु अर्जुनको ऐसा लग रहा है कि वे विराटरूप भगवान्को देखकर ही भयभीत होकर स्तुति कर रहे हैं।

‘स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः

पुष्कलाभिः’—सप्तर्षियों, देवर्षियों, महर्षियों, सनकादिकों और देवताओंके द्वारा स्वस्तिवाचन (कल्याण हो! मंगल हो!) हो रहा है और बड़े उत्तम-उत्तम स्तोत्रोंके द्वारा आपकी स्तुतियाँ हो रही हैं।

परिशिष्ट भाव—देवता, महर्षि, सिद्ध आदि सब भगवान्के ही विराटरूपके अंग हैं। अतः प्रविष्ट होनेवाले भयभीत होनेवाले, भगवान्के नामों और गुणोंका कीर्तन करनेवाले तथा स्तुति करनेवाले भी भगवान् हैं और जिनमें प्रविष्ट हो रहे हैं, जिनसे भयभीत हो रहे हैं, जिनके नामों और गुणोंका कीर्तन कर रहे हैं और जिनकी स्तुति कर रहे हैं, वे भी भगवान् हैं। यह भगवान्के सगुण रूपकी विलक्षणता है!

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।

गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे ॥ २२ ॥

ये	= जो	च	= तथा	गन्धर्वयक्षासुर-
रुद्रादित्याः	= ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य,	मरुतः	= उनचास मरुद्गण	सिद्धसङ्घाः
वसवः	= आठ वसु,	च	= और	= गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धोंके समुदाय हैं,
साध्याः	= बारह साध्यगण,	ऊष्मपाः	= गरम-गरम भोजन करनेवाले (सात पितृगण)	सर्वे, एव
विश्वे	= दस विश्वेदेव	च	= तथा	= (वे) सभी चकित होकर
अश्विनौ	= दो अश्विनीकुमार,			विस्मिताः
				त्वाम्
				वीक्षन्ते
				= आपको देख रहे हैं।

व्याख्या—‘रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च’—ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, आठ वसु, दो अश्विनीकुमार और उनचास मरुद्गण—इन सबके नाम इसी अध्यायके छठे श्लोककी व्याख्यामें दिये गये हैं, इसलिये वहाँ देख लेना चाहिये।

मन, अनुमन्ता, प्राण, नर, यान, चित्ति, हय, नय, हंस, नारायण, प्रभव और विभु—ये बारह ‘साध्य’ हैं (वायुपुराण, छाछठवाँ अध्याय, पन्द्रहवाँ-सोलहवाँ श्लोक)।

क्रतु, दक्ष, श्रव, सत्य, काल, काम, धुनि, कुरुवान्, प्रभवान् और रोचमान—ये दस ‘विश्वेदेव’ हैं (वायुपुराण, छाछठवाँ अध्याय, इकतीसवाँ-बत्तीसवाँ श्लोक)।

कव्यवाह, अनल, सोम, यम, अर्यमा, अग्निष्वात्त और बर्हिषत्—ये सात ‘पितर’ हैं (शिवपुराण, धर्म० तिरसठवाँ

अध्याय, दूसरा श्लोक)। ऊष्म अर्थात् गरम अन्न खानेके कारण पितरोंका नाम ‘ऊष्मपा’ है।

‘गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घाः’—कश्यपजीकी पत्नी मुनि और प्राधासे तथा अरिष्टासे गन्धर्वोंकी उत्पत्ति हुई है। गन्धर्वलोग राग-रागिनियोंकी विद्यामें बड़े चतुर हैं। ये स्वर्गलोकके गायक हैं।

कश्यपजीकी पत्नी खसासे यक्षोंकी उत्पत्ति हुई है। देवताओंके विरोधी* दैत्यों, दानवों और राक्षसोंको असुर कहते हैं। कपिल आदिको सिद्ध कहते हैं।

‘वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे’—उपर्युक्त सभी देवता, पितर, गन्धर्व, यक्ष आदि चकित होकर आपको देख रहे हैं। ये सभी देवता आदि विराटरूपके ही अंग हैं।

परिशिष्ट भाव—रुद्र, आदित्य, वसु, साध्यगण, विश्वेदेव आदि सब-के-सब एक भगवान्के समग्ररूपके ही अंग हैं। अतः देखनेवाले और दीखनेवाले सभी एक परमात्मा ही हैं।

सम्बन्ध—अब अर्जुन आगेके तीन श्लोकोंमें विश्वरूपके महान् विकराल रूपका वर्णन करके उसका परिणाम बताते हैं।

* यहाँ आये ‘असुर’ शब्दमें ‘नञ्’ समास है—‘न सुरा असुराः।’ अतः यहाँ ‘असुर’ शब्द देवताओंके विरोधीका वाचक है।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरूपादम् । बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥ २३ ॥

महाबाहो	= हे महाबाहो !		चरणोंवाले,	रूपम्	= रूपको
ते	= आपके	बहूदरम्	= बहुत उदरोंवाले (और)	दृष्ट्वा	= देखकर
बहुवक्त्र-				लोकाः	= सब प्राणी
नेत्रम्	= बहुत मुखों और नेत्रोंवाले,	बहुदंष्ट्रा-		प्रव्यथिताः	= व्यथित हो रहे हैं
		करालम्	= बहुत विकराल दाढ़ोंवाले	तथा	= तथा
बहुबाहूरूपादम्	= बहुत भुजाओं, जंघाओं और	महत्	= महान्	अहम्	= मैं भी (व्यथित हो रहा हूँ) ।

व्याख्या—[पन्द्रहवेंसे अठारहवें श्लोकतक विश्वरूपमें 'देव'-रूपका, उन्नीसवेंसे बाईसवें श्लोकतक 'उग्र'-रूपका और तेईसवेंसे तीसवें श्लोकतक 'अत्यन्त उग्र'-रूपका वर्णन हुआ है।]

'बहुवक्त्रनेत्रम्'—आपके मुख एक-दूसरेसे नहीं मिलते। कई मुख सौम्य हैं और कई विकराल हैं। कई मुख छोटे हैं और कई बड़े हैं। ऐसे ही आपके जो नेत्र हैं, वे भी सभी एक समान नहीं दीख रहे हैं। कई नेत्र सौम्य हैं और कई विकराल हैं। कई नेत्र छोटे हैं, कई बड़े हैं, कई लम्बे हैं, कई चौड़े हैं, कई गोल हैं, कई टेढ़े हैं, आदि-आदि।

'बहुबाहूरूपादम्'— हाथोंकी बनावट, वर्ण, आकृति और उनके कार्य विलक्षण-विलक्षण हैं। जंघाएँ विचित्र-विचित्र हैं और चरण भी तरह-तरहके हैं।

'बहूदरम्'— पेट भी एक समान नहीं हैं। कोई बड़ा, कोई छोटा, कोई भयंकर आदि कई तरहके पेट हैं।

'बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्'—मुखोंमें बहुत प्रकारकी विकराल दाढ़ें हैं। ऐसे महान् भयंकर, विकराल रूपको देखकर सब प्राणी व्याकुल हो रहे हैं और मैं भी व्याकुल हो रहा हूँ।

इस श्लोकसे पहले कहे हुए श्लोकोंमें भी अनेक मुखों, नेत्रों आदिकी और सब लोगोंके भयभीत होनेकी बात आयी है। अतः अर्जुन एक ही बात बार-बार क्यों कह रहे हैं? इसका कारण है कि—(१) विराटरूपमें अर्जुनकी दृष्टिके सामने जो-जो रूप आता है, उस-उसमें उनको नयी-नयी विलक्षणता और दिव्यता दीख रही है।

(२) विराटरूपको देखकर अर्जुन इतने घबरा गये, चकित हो गये, चकरा गये, व्यथित हो गये कि उनको यह खयाल ही नहीं रहा कि मैंने क्या कहा है और मैं क्या कह रहा हूँ।

(३) पहले तो अर्जुनने तीनों लोकोंके व्यथित होनेकी बात कही थी, पर यहाँ सब प्राणियोंके साथ-साथ स्वयंके भी व्यथित होनेकी बात कहते हैं।

(४) एक बातको बार-बार कहना अर्जुनके भयभीत और आश्चर्यचकित होनेका चिह्न है। संसारमें देखा भी जाता है कि जिसको भय, हर्ष, शोक, आश्चर्य आदि होते हैं, उसके मुखसे स्वाभाविक ही किसी शब्द या वाक्यका बार-बार उच्चारण हो जाता है; जैसे—कोई साँपको देखकर भयभीत होता है तो वह बार-बार 'साँप! साँप! साँप!' ऐसा कहता है। कोई सज्जन पुरुष आता है तो हर्षमें भरकर कहते हैं—'आइये! आइये! आइये!' कोई प्रिय व्यक्ति मर जाता है तो शोकाकुल होकर कहते हैं—'मैं मारा गया! मारा गया! घरमें अँधेरा हो गया, अँधेरा हो गया!' अचानक कोई आफत आ जाती है तो मुखसे निकलता है—'मैं मरा! मरा! मरा!' ऐसे ही यहाँ विश्वरूप-दर्शनमें अर्जुनके द्वारा भय और हर्षके कारण कुछ शब्दों और वाक्योंका बार-बार उच्चारण हुआ है। अर्जुनने भय और हर्षको स्वीकार भी किया है—'अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे' (११।४५)। तात्पर्य है कि भय, हर्ष, शोक आदिमें एक बातको बार-बार कहना पुनरुक्ति-दोष नहीं माना जाता।

परिशिष्ट भाव—दीखनेवाले और देखनेवाले, व्यथित करनेवाले और व्यथित होनेवाले सब प्राणी और स्वयं अर्जुन भी भगवान्के विराटरूपके अन्तर्गत ही हैं।

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् । दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमं च विष्णो ॥ २४ ॥

हि	= क्योंकि	व्यात्ताननम्	= आपका मुख फैला हुआ है,	प्रव्यथितान्तरात्मा	= भयभीत अन्तःकरणवाला (में)
विष्णो	= हे विष्णो! (आपके)	दीप्तविशाल-		धृतिम्	= धैर्य
दीप्तम्	= देदीप्यमान	नेत्रम्	= आपके नेत्र प्रदीप्त और विशाल हैं।	च	= और
अनेकवर्णम्	= अनेक वर्ण हैं,	त्वाम्	= (ऐसे) आपको	शमम्	= शान्तिको
नभःस्पृशम्	= आप आकाशको स्पर्श कर रहे हैं अर्थात् सब तरफसे बहुत बड़े हैं,	दृष्ट्वा	= देखकर	न, विन्दामि	= प्राप्त नहीं हो रहा हूँ।

व्याख्या—[बीसवें श्लोकमें तो अर्जुनने विराटरूपकी लम्बाई-चौड़ाईका वर्णन किया, अब यहाँ केवल लम्बाईका वर्णन करते हैं।]

‘विष्णो’—आप साक्षात् सर्वव्यापक विष्णु हैं, जिन्होंने पृथ्वीका भार दूर करनेके लिये कृष्णरूपसे अवतार लिया है।

‘दीप्तमनेकवर्णम्’—आपके काले, पीले, श्याम, गौर आदि अनेक वर्ण हैं, जो बड़े ही देदीप्यमान हैं।

‘नभःस्पृशम्’—आपका स्वरूप इतना लम्बा है कि वह आकाशको स्पर्श कर रहा है।

वायुका गुण होनेसे स्पर्श वायुका ही होता है, आकाशका नहीं। फिर यहाँ आकाशको स्पर्श करनेका तात्पर्य क्या है? मनुष्यकी दृष्टि जहाँतक जाती है, वहाँतक तो उसको आकाश दीखता है, पर उसके आगे कालापन दिखायी देता है। कारण कि जब दृष्टि आगे नहीं जाती, थक जाती है, तब वह वहाँसे लौटती है, जिससे आगे कालापन दीखता है। यही दृष्टिका आकाशको स्पर्श करना है। ऐसे ही अर्जुनकी दृष्टि जहाँतक जाती है, वहाँतक उनको भगवान्का विराटरूप दिखायी देता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि भगवान्का विराटरूप असीम है, जिसके सामने दिव्यदृष्टि भी सीमित ही है।

‘व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्’—जैसे कोई भयानक जन्तु किसी जन्तुको खानेके लिये अपना मुख फैलाता है, ऐसे ही मात्र विश्वको चट करनेके लिये आपका मुख फैला हुआ दीख रहा है।

आपके नेत्र बड़े ही देदीप्यमान और विशाल दीख रहे हैं।

‘दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि

शमं च विष्णो’—इस तरह आपको देखकर मैं भीतरसे बहुत व्यथित हो रहा हूँ। मेरेको कहींसे भी धैर्य नहीं मिल रहा है और शान्ति भी नहीं मिल रही है।

यहाँ एक शंका होती है कि अर्जुनमें एक तो खुदकी सामर्थ्य है और दूसरी, भगवत्प्रदत्त सामर्थ्य (दिव्यदृष्टि) है। फिर भी अर्जुन तो विश्वरूपको देखकर डर गये, पर संजय नहीं डरे। इसमें क्या कारण है? सन्तोंसे ऐसा सुना है कि भीष्म, विदुर, संजय और कुन्ती—ये चारों भगवान् श्रीकृष्णके तत्त्वको विशेषतासे जाननेवाले थे। इसलिये संजय पहलेसे ही भगवान्के तत्त्वको, उनके प्रभावको जानते थे, जब कि अर्जुन भगवान्के तत्त्वको उतना नहीं जानते थे। अर्जुनका विमूढ़भाव (मोह) अभी सर्वथा दूर नहीं हुआ था (गीता—ग्यारहवें अध्यायका उनचासवाँ श्लोक)। इस विमूढ़भावके कारण अर्जुन भयभीत हुए। परन्तु संजय भगवान्के तत्त्वको जानते थे अर्थात् उनमें विमूढ़भाव नहीं था; अतः वे भयभीत नहीं हुए।

उपर्युक्त विवेचनसे एक बात सिद्ध होती है कि भगवान् और महापुरुषोंकी कृपा विशेषरूपसे अयोग्य मनुष्योंपर होती है, पर उस कृपाको विशेषरूपसे योग्य मनुष्य ही जानते हैं। जैसे, छोटे बच्चेपर माँका अधिक स्नेह होता है, पर बड़ा लड़का माँको जितना जानता है, उतना छोटा बच्चा नहीं जानता। ऐसे ही भोले-भाले, सीधे-सादे व्रजवासी, ग्वालबाल, गोप-गोपी और गाय—इनपर भगवान् जितना अधिक स्नेह करते हैं, उतना स्नेह जीवन्मुक्त महापुरुषोंपर नहीं करते। परन्तु जीवन्मुक्त महापुरुष ग्वालबाल आदिकी अपेक्षा भगवान्को विशेषरूपसे जानते हैं। संजयने विश्वरूपके लिये प्रार्थना भी नहीं की और विश्वरूपको देख लिया। परन्तु विश्वरूप देखनेके लिये अर्जुनको स्वयं

भगवान्ने ही उत्कण्ठित किया और अपना विश्वरूप भी दिखाया; क्योंकि संजयकी अपेक्षा भगवान्के तत्त्वको जाननेमें अर्जुन छोटे थे और भगवान्के साथ सखाभाव रखते थे। इसलिये अर्जुनपर भगवान्की कृपा अधिक थी।

इस कृपाके कारण अन्तमें अर्जुनका मोह नष्ट हो गया— 'नष्टो मोहः त्वत्प्रसादात्' (गीता १८।७३)। इससे सिद्ध होता है कि कृपापात्रका मोह अन्तमें नष्ट हो ही जाता है।

परिशिष्ट भाव—यहाँ आया 'नभःस्पृशम्' पद विराटरूपकी अनन्तताका द्योतक है। अर्जुनकी दृष्टि जहाँतक जाती है, वहाँतक उनको विराटरूप ही दीखता है—'सा काष्ठा सा परा गतिः' (कठ० १।३।११) अर्थात् वह परमात्मा सबकी परम अवधि और परम गति है।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि । दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ २५ ॥

ते	= आपके	मुखानि	= मुखोंको	शर्म	= शान्ति
कालानल-		दृष्ट्वा	= देखकर	एव	= ही
सन्निभानि	= प्रलयकालकी		(मुझे)	लभे	= मिल रही है।
	अग्निके समान	न	= न तो		(इसलिये)
	प्रज्वलित	दिशः	= दिशाओंका	देवेश	= हे देवेश!
च	= और	जाने	= ज्ञान हो रहा है	जगन्निवास	= हे जगन्निवास!
दंष्ट्राकरालानि	= दाढ़ोंके कारण	च	= और	प्रसीद	= (आप) प्रसन्न
	विकराल (भयानक)	न	= न		होइये।

व्याख्या—'दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि'—महाप्रलयके समय सम्पूर्ण त्रिलोकीको भस्म करनेवाली जो अग्नि प्रकट होती है, उसे संवर्तक अथवा कालाग्नि कहते हैं। उस कालाग्निके समान आपके मुख हैं, जो भयंकर-भयंकर दाढ़ोंके कारण बहुत विकराल हो रहे हैं। उनको देखनेमात्रसे ही बड़ा भय लग रहा है। अगर उनका कार्य देखा जाय तो उसके सामने किसीका टिकना ही मुश्किल है।

'दिशो न जाने न लभे च शर्म'—ऐसे विकराल मुखोंको देखकर मुझे दिशाओंका भी ज्ञान नहीं हो रहा है। इसका तात्पर्य है कि दिशाओंका ज्ञान होता है सूर्यके उदय और अस्त होनेसे। पर वह सूर्य तो आपके नेत्रोंकी जगह है अर्थात् वह तो आपके विराटरूपके अन्तर्गत आ गया है। इसके सिवाय आपके चारों ओर महान् प्रज्वलित प्रकाश-ही-प्रकाश दीख रहा है (ग्यारहवें अध्यायका

बारहवाँ श्लोक), जिसका न उदय और न अस्त हो रहा है। इसलिये मेरेको दिशाओंका ज्ञान नहीं हो रहा है और विकराल मुखोंको देखकर भयके कारण मैं किसी तरहका सुख और शान्ति भी प्राप्त नहीं कर रहा हूँ।

'प्रसीद देवेश जगन्निवास'—आप सब देवताओंके मालिक हैं और सम्पूर्ण संसार आपमें ही निवास कर रहा है। अतः कोई भी देवता, मनुष्य भयभीत होनेपर आपको ही तो पुकारेगा! आपके सिवाय और किसको पुकारेगा? तथा और कौन सुनेगा? इसलिये मैं भी आपको पुकारकर कह रहा हूँ कि हे देवेश! हे जगन्निवास! आप प्रसन्न होइये।

भगवान्के विकराल रूपको देखकर अर्जुनको ऐसा लगा कि भगवान् मानो बड़े क्रोधमें आये हुए हैं। इस भावनाको लेकर ही भयभीत अर्जुन भगवान्से प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना कर रहे हैं।

परिशिष्ट भाव—भगवान् तो प्रसन्न होकर ही अर्जुनको अपना विराटरूप दिखा रहे हैं (गीता—इसी अध्यायका सैंतालीसवाँ श्लोक), पर उनके रूपकी उग्रताको देखकर अर्जुनको यह वहम हो रहा है कि भगवान् अप्रसन्न हैं। इसलिये वे भगवान्से प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करते हैं।

सम्बन्ध—अब अर्जुन आगेके दो श्लोकोंमें मुख्य-मुख्य योद्धाओंका विराटरूपमें प्रवेश होनेका वर्णन करते हैं।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः ।
 भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः ॥ २६ ॥
 वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि ।
 केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु सन्दृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः ॥ २७ ॥

अस्मदीयैः	= हमारे पक्षके	अवनिपाल-		भयानकानि	= भयंकर
योधमुख्यैः	= मुख्य-मुख्य योद्धाओंके	सङ्घैः	= राजाओंके समुदायोंके	वक्त्राणि	= मुखोंमें
सह	= सहित	सह	= सहित	त्वरमाणाः	= बड़ी तेजीसे
भीष्मः	= भीष्म,	धृतराष्ट्रस्य	= धृतराष्ट्रके	विशन्ति	= प्रविष्ट हो रहे हैं ।
द्रोणः	= द्रोण	अमी	= वे	केचित्	= (उनमेंसे) कई- एक तो
तथा	= और	एव	= ही	चूर्णितैः	= चूर्ण हुए
असौ	= वह	सर्वे	= सब-के-सब	उत्तमाङ्गैः	= सिरोंसहित
सूतपुत्रः	= कर्ण	पुत्राः	= पुत्र	दशनान्तरेषु	= (आपके) दाँतोंके बीचमें
अपि	= भी	ते	= आपके	विलग्नाः	= फँसे हुए
त्वाम्	= आपमें (प्रविष्ट हो रहे हैं)	दंष्ट्राकरालानि	= विकराल दाढ़ोंके कारण	सन्दृश्यन्ते	= दीख रहे हैं ।

व्याख्या—‘भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः’—हमारे पक्षके धृष्टद्युम्न, विराट, द्रुपद आदि जो मुख्य-मुख्य योद्धालोग हैं, वे सब-के-सब धर्मके पक्षमें हैं और केवल अपना कर्तव्य समझकर युद्ध करनेके लिये आये हैं। हमारे इन सेनापतियोंके साथ पितामह भीष्म,

आचार्य द्रोण और वह प्रसिद्ध सूतपुत्र कर्ण आपमें प्रविष्ट हो रहे हैं।

यहाँ भीष्म, द्रोण और कर्णका नाम लेनेका तात्पर्य है कि ये तीनों ही अपने कर्तव्यका पालन करनेके लिये युद्धमें आये थे*।

* भीष्म—भीष्मजीकी प्रतिज्ञा दुनियामें प्रसिद्ध है कि उन्होंने पिताजीकी प्रसन्नताके लिये विवाह न करनेकी प्रतिज्ञा की और आबाल ब्रह्मचारी रहे। इस प्रतिज्ञापर वे इतने डटे रहे कि उन्होंने गुरु परशुरामजीके साथ युद्ध किया, पर अपनी प्रतिज्ञा नहीं तोड़ी। भगवान्ने पहले हाथमें शस्त्र ग्रहण न करनेकी प्रतिज्ञा की थी। परन्तु जब भीष्मजीने (भगवान्की प्रतिज्ञाके विरुद्ध) यह प्रतिज्ञा कर ली कि ‘आजु जो हरिर्हि न शस्त्र गहाऊँ। तौ लाजौ गंगा जननीको शान्तनु-सुत न कहाऊँ॥’ तो भगवान्को भी अपनी प्रतिज्ञा छोड़कर एक बार चाबुक और दूसरी बार चक्र लेकर भीष्मजीकी तरफ दौड़ना पड़ा। इस तरह भीष्मकी प्रतिज्ञा बनी रही और भगवान्की प्रतिज्ञा टूट गयी।

द्रोण—द्रोणाचार्य दुर्योधनका अन्न खाकर उसके वृत्तिभोगी रहे हैं। इसलिये वे युद्धको अपना कर्तव्य समझकर युद्धमें लग जाते हैं और अन्तमें देवताओंकी बातें सुनकर और युद्धमें अपने ब्राह्मणोचित धर्मको समझकर युद्धसे उपरत हो जाते हैं।

द्रोणाचार्यमें इतनी निष्पक्षता थी कि गुरुभक्त और विद्यामें तत्पर अर्जुनको ब्रह्मास्त्र छोड़ना और उसका उपसंहार करना (वापस लेना)—ये दो विद्याएँ सिखा दीं; परन्तु अपने पुत्र अश्वत्थामाको केवल ब्रह्मास्त्र छोड़ना ही सिखाया, उपसंहार करना सिखाया ही नहीं।

कर्ण—कर्णकी दुर्योधनके साथ मित्रता थी, उस मित्रतारूप कर्तव्यको निभानेके लिये वे युद्धमें आते हैं। भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा ‘कर्ण! तू कुन्तीका बेटा है,’ ऐसा कहनेपर भी वे दुर्योधनके पक्षमें ही रहे और उन्होंने भगवान्से कहा कि ‘यह बात आप धर्मराज युधिष्ठिरसे मत कहना; क्योंकि अगर उनको पता लग जायगा तो मुझे बड़ा समझकर वे राज्य मुझे दे देंगे और मैं राज्य दुर्योधनको दे दूँगा। इससे पाण्डव सदाके लिये दुःखी रहेंगे।’

कर्ण बड़े दृढ़प्रतिज्ञ थे। वे विचित्र ही दानवीर थे। इन्द्रके माँगनेपर उन्होंने अपने नैसर्गिक (जन्मजात) कुण्डल और कवच उतारकर दे दिये थे। माता कुन्तीके द्वारा माँगनेपर उन्होंने उनको पाँच पुत्रोंके बने रहनेका वचन दिया, जिसमें उन्होंने कहा ‘माँ! मैं युधिष्ठिर, भीम, नकुल और सहदेवको तो मारूँगा नहीं, पर अर्जुनके साथ मेरा युद्ध होगा। युद्धमें अगर अर्जुन मेरेको मार देगा, तो तेरे पाँच पुत्र रहेंगे ही और अगर मैं अर्जुनको मार दूँगा, तो भी मेरेसहित तेरे पाँच पुत्र रहेंगे!’

‘अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः’—दुर्योधनके पक्षमें जितने राजालोग हैं, जो युद्धमें दुर्योधनका प्रिय करना चाहते हैं (गीता—पहले अध्यायका तेईसवाँ श्लोक) अर्थात् दुर्योधनको हितकी सलाह नहीं दे रहे हैं, उन सभी राजाओंके समूहोंके साथ धृतराष्ट्रके दुर्योधन, दुःशासन आदि सौ पुत्र विकराल दाढ़ोंके कारण अत्यन्त भयानक आपके मुखोंमें बड़ी तेजीसे प्रवेश कर रहे हैं—‘वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।’

विराटरूपमें वे चाहे भगवान्में प्रवेश करें, चाहे भगवान्के मुखोंमें जायँ, वह एक ही लीला है। परन्तु भावोंके अनुसार उनकी गतियाँ अलग-अलग प्रतीत हो रही हैं। इसलिये भगवान्में जायँ अथवा मुखोंमें जायँ, वे हैं तो विराटरूपमें ही।

‘केचिद्विलगना दशनान्तरेषु संदृश्यन्ते चूर्णितै-रुत्तमाङ्गैः’—जैसे खाद्य पदार्थोंमें कुछ पदार्थ ऐसे होते हैं, जो चबाते समय सीधे पेटमें चले जाते हैं, पर कुछ पदार्थ ऐसे होते हैं, जो चबाते समय दाँतों और दाढ़ोंके बीचमें

फँस जाते हैं। ऐसे ही आपके मुखोंमें प्रविष्ट होनेवालोंमेंसे कई-एक तो सीधे भीतर (पेटमें) चले जा रहे हैं, पर कई-एक चूर्ण हुए मस्तकोंसहित आपके दाँतों और दाढ़ोंके बीचमें फँसे हुए दीख रहे हैं।

यहाँ एक शंका होती है कि योद्धारालोग तो अभी सामने युद्धक्षेत्रमें खड़े हुए हैं, फिर वे अर्जुनको विराटरूपके मुखोंमें जाते हुए कैसे दिखायी दिये? इसका समाधान यह है कि भगवान् विराटरूपमें अर्जुनको आसन्न भविष्यकी बात दिखा रहे हैं। भगवान्ने विराटरूप दिखाते समय अर्जुनसे कहा था कि तू और भी जो कुछ देखना चाहता है, वह भी मेरे इस विराटरूपमें देख ले (सातवाँ श्लोक)। अर्जुनके मनमें सन्देह था कि युद्धमें हमारी जीत होगी या कौरवोंकी? (दूसरे अध्यायका छठा श्लोक) इसलिये उस सन्देहको दूर करनेके लिये भगवान् अर्जुनको आसन्न भविष्यका दृश्य दिखाकर मानो यह बताते हैं कि युद्धमें तुम्हारी ही जीत होगी। आगे अर्जुनके द्वारा प्रश्न करनेपर भी भगवान्ने यही बात कही है (बत्तीसवेंसे चौतीसवें श्लोकतक)।

परिशिष्ट भाव—अर्जुन भगवान्के विराटरूपमें आसन्न भविष्यको देख रहे हैं। कालातीत होनेसे भगवान्में भूत, भविष्य और वर्तमान—तीनों काल वर्तमान ही हैं (गीता—सातवें अध्यायका छब्बीसवाँ श्लोक)।

सम्बन्ध—जो अपना कर्तव्य समझकर धर्मकी दृष्टिसे युद्धमें आये हैं और जो परमात्माकी प्राप्ति चाहनेवाले हैं—एसे पुरुषोंका विराटरूपमें नदियोंके दृष्टान्तसे प्रवेश करनेका वर्णन अर्जुन आगेके श्लोकमें करते हैं।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति ।

तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥ २८ ॥

यथा	= जैसे	अभिमुखाः	= सम्मुख	तव	= आपके
नदीनाम्	= नदियोंके	द्रवन्ति	= दौड़ते हैं,	अभिविज्वलन्ति	= सब तरफसे
बहवः	= बहुत-से	तथा	= ऐसे ही		देदीप्यमान
अम्बुवेगाः	= जलके प्रवाह	अमी	= वे	वक्त्राणि	= मुखोंमें
एव	= (स्वाभाविक) ही	नरलोकवीराः	= संसारके महान्	विशन्ति	= प्रवेश
समुद्रम्	= समुद्रके		शूरवीर		कर रहे हैं।

व्याख्या—‘यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्र-मेवाभिमुखा द्रवन्ति’—मूलमें जलमात्र समुद्रका है। वही जल बादलोंके द्वारा वर्षारूपमें पृथ्वीपर बरसकर झरने, नाले आदिको लेकर नदियोंका रूप धारण करता है। उन नदियोंके जितने वेग हैं, प्रवाह हैं, वे सभी स्वाभाविक ही समुद्रकी तरफ दौड़ते हैं। कारण कि जलका उद्गम स्थान समुद्र ही है। वे सभी जल-प्रवाह समुद्रमें जाकर अपने नाम

और रूपको छोड़कर अर्थात् गंगा, यमुना, सरस्वती आदि नामोंको और प्रवाहके रूपको छोड़कर समुद्ररूप ही हो जाते हैं। फिर वे जल-प्रवाह समुद्रके सिवाय अपना कोई अलग, स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखते। वास्तवमें तो उनका स्वतन्त्र अस्तित्व पहले भी नहीं था, केवल नदियोंके प्रवाहरूपमें होनेके कारण वे अलग दीखते थे।

‘तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभि-

विज्वलन्ति'—नदियोंकी तरह मात्र जीव नित्य सुखकी अभिलाषाको लेकर परमात्माके सम्मुख ही दौड़ते हैं। परन्तु भूलसे असत्, नाशवान् शरीरके साथ सम्बन्ध मान लेनेसे वे सांसारिक संग्रह और संयोगजन्य सुखमें लग जाते हैं तथा अपना अलग अस्तित्व मानने लगते हैं। उन जीवोंमें वे ही वास्तविक शूरवीर हैं, जो सांसारिक संग्रह और सुखभोगोंमें न लगकर, जिसके लिये शरीर

मिला है, उस परमात्मप्राप्तिके मार्गमें ही तत्परतासे लगे हुए हैं। ऐसे युद्धमें आये हुए भीष्म, द्रोण आदि नरलोकवीर आपके प्रकाशमय (ज्ञानस्वरूप) मुखोंमें प्रविष्ट हो रहे हैं।

सामने दीखनेवाले लोगोंमें परमात्मप्राप्ति चाहनेवाले लोग विलक्षण हैं और बहुत थोड़े हैं। अतः उनके लिये परीक्षावाचक 'अमी' (वे) पद दिया गया है।

सम्बन्ध—जो राज्य और प्रशंसाके लोभसे युद्धमें आये हैं और जो सांसारिक संग्रह और भोगोंकी प्राप्तिमें लगे हुए हैं—ऐसे पुरुषोंका विराटरूपमें पतंगोंके दृष्टान्तसे प्रवेश करनेका वर्णन अर्जुन आगेके श्लोकमें करते हैं।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः ।

तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः ॥ २९ ॥

यथा	= जैसे	ज्वलनम्	= अग्निमें	करनेके लिये
पतङ्गाः	= पतंगे (मोहवश)	विशन्ति	= प्रविष्ट होते हैं,	समृद्धवेगाः = बड़े वेगसे दौड़ते
नाशाय	= (अपना) नाश	तथा	= ऐसे	हुए
	करनेके लिये	एव	= ही	तव = आपके
समृद्धवेगाः	= बड़े वेगसे दौड़ते	लोकाः	= ये सब लोग	वक्त्राणि = मुखोंमें
	हुए	अपि	= भी (मोहवश)	विशन्ति = प्रविष्ट
प्रदीप्तम्	= प्रज्वलित	नाशाय	= (अपना) नाश	हो रहे हैं।

व्याख्या—'यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः'—जैसे हरी-हरी घासमें रहनेवाले पतंगे चातुर्मासकी अँधेरी रात्रिमें कहींपर प्रज्वलित अग्नि देखते हैं, तो उसपर मुग्ध होकर (कि बहुत सुन्दर प्रकाश मिल गया, हम इससे लाभ ले लेंगे, हमारा अँधेरा मिट जायगा) उसकी तरफ बड़ी तेजीसे दौड़ते हैं। उनमेंसे कुछ तो प्रज्वलित अग्निमें स्वाहा हो जाते हैं; कुछको अग्निकी थोड़ी-सी लपट लग जाती है तो उनका उड़ना बंद हो जाता है और वे तड़पते रहते हैं। फिर भी उनकी लालसा उस अग्निकी तरफ ही रहती है! यदि कोई पुरुष दया करके उस अग्निको बुझा देता है तो वे पतंगे बड़े दुःखी हो जाते हैं कि उसने हमारेको बड़े लाभसे वंचित कर दिया!

'तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि

समृद्धवेगाः'—भोग भोगने और संग्रह करनेमें ही तत्परतापूर्वक लगे रहना और मनमें भोगों और संग्रहका ही चिन्तन होते रहना—यह बढ़ा हुआ सांसारिक वेग है। ऐसे वेगवाले दुर्योधनादि राजालोग पतंगोंकी तरह बड़ी तेजीसे कालचक्ररूप आपके मुखोंमें जा रहे हैं अर्थात् पतनकी तरफ जा रहे हैं—चौरासी लाख योनियों और नरकोंकी तरफ जा रहे हैं। तात्पर्य यह हुआ कि प्रायः मनुष्य सांसारिक भोग, सुख, आराम, मान, आदर आदिको प्राप्त करनेके लिये रात-दिन दौड़ते हैं। उनको प्राप्त करनेमें उनका अपमान होता है, निन्दा होती है, घाटा लगता है, चिन्ता होती है, अन्तःकरणमें जलन होती है और जिस आयुके बलपर वे जी रहे हैं, वह आयु भी समाप्त होती जाती है, फिर भी वे नाशवान् भोग और संग्रहकी प्राप्तिके लिये भीतरसे लालायित रहते हैं*।

* अजानन् दाहात्म्यं पतति शलभो दीपदहने स मीनोऽप्यज्ञानाद्द्विडिशयुतमश्नाति पिशितम् ।

विजानन्तोऽप्येते वयमिह विपज्जालजटिलान् न मुंचामः कामानहह गहनो मोहमहिमा ॥ (भर्तृहरिवैराग्यशतक)

'पतंग दीपकके दाहक स्वरूपको न जाननेके कारण ही उसपर गिरता है, मछली भी अज्ञानवश ही बंसीमें लगे हुए मांसके टुकड़ेको निगलती है; परन्तु हमलोग जानते हुए भी विपत्तिके जटिल जालमें फँसानेवाली कामनाओंको नहीं छोड़ते; अहो! मोहकी महिमा बड़ी गहन है।'

परिशिष्ट भाव—पिछले श्लोकमें नदियोंका और इस श्लोकमें पतंगोंका दृष्टान्त दिया गया है। पतंगे तो मोहवश लेनेकी इच्छासे खुद अग्निमें जाते हैं, पर नदियाँ अपने-आपको देनेके लिये समुद्रमें जाती हैं। अतः जो मनुष्य, 'लेने' की इच्छा रखते हैं, वे पतंगोंके समान हैं और जो मनुष्य 'देने' की इच्छा रखते हैं, वे नदियोंके समान हैं, लेनेका भाव जड़ता है और देनेका भाव चेतनता है। लेनेकी भावनासे अशुभ कर्म और देनेकी भावनासे शुभ कर्म होते हैं। लेनेकी इच्छावालोंके लिये स्वर्ग है और देनेकी इच्छावालोंके लिये मोक्ष है। कारण कि लेनेका भाव बाँधनेवाला और देनेका भाव मुक्त करनेवाला होता है।

सम्बन्ध—पीछेके दो श्लोकोंमें दो दृष्टान्तोंसे दोनों समुदायोंका वर्णन करके अब सम्पूर्ण लोकोंका ग्रसन करते हुए विश्वरूप भगवान्के भयानक रूपका वर्णन करते हैं।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।

तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥ ३० ॥

ज्वलद्भिः	= (आप अपने) प्रज्वलित	समन्तात्	= सब ओरसे	तेजोभिः	= अपने तेजसे
वदनैः	= मुखोंद्वारा	लेलिह्यसे	= बार-बार चाट रहे हैं;	समग्रम्	= सम्पूर्ण
समग्रान्	= सम्पूर्ण	विष्णो	= (और) हे विष्णो!	जगत्	= जगत्को
लोकान्	= लोकोंका	तव	= आपका	आपूर्य	= परिपूर्ण करके
ग्रसमानः	= ग्रसन करते हुए (उन्हें)	उग्राः	= उग्र	प्रतपन्ति	= (सबको) तपा रहा है।
		भासः	= प्रकाश		

व्याख्या—'लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान् समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः'—आप सम्पूर्ण प्राणियोंका संहार कर रहे हैं और कोई इधर-उधर न चला जाय, इसलिये बार-बार जीभके लपेटेसे अपने प्रज्वलित मुखोंमें लेते हुए उनका ग्रसन कर रहे हैं। तात्पर्य है कि कालरूप भगवान्की

जीभके लपेटसे कोई भी प्राणी बच नहीं सकता।

'तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो'—विराटरूप भगवान्का तेज बड़ा उग्र है। वह उग्र तेज सम्पूर्ण जगत्में परिपूर्ण होकर सबको संतप्त कर रहा है, व्यथित कर रहा है।

परिशिष्ट भाव—यहाँ 'लोकान्समग्रान्' (लोकमात्र) तथा 'जगत्समग्रम्' (जड़-चेतन, स्थावर-जंगमरूप जगन्मात्र) कहनेका तात्पर्य है कि यह सब कुछ भगवान्के ही समग्ररूपके अन्तर्गत है।

गीतामें भगवान्को भी समग्र कहा है—'असंशयं समग्रं माम्' (७। १), कर्मोंको भी समग्र कहा है—'यज्ञायाचरतः कर्म समग्रम्' (४। २३) और प्रस्तुत श्लोकमें संसारको भी समग्र कहा है। इसका तात्पर्य है कि सब भगवान्के ही रूप हैं।

सम्बन्ध—विराटरूप भगवान् अपने विलक्षण-विलक्षण रूपोंका दर्शन कराते ही चले गये। उनके भयंकर और अत्यन्त उग्ररूपके मुखोंमें सम्पूर्ण प्राणी और दोनों पक्षोंके योद्धा जाते देखकर अर्जुन बहुत घबरा गये। अतः अत्यन्त उग्ररूपधारी भगवान्का वास्तविक परिचय जाननेके लिये अर्जुन प्रश्न करते हैं।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।

विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥ ३१ ॥

मे	= मुझे यह	भवान्	= आप	ते	= आपको
आख्याहि	= बताइये कि	कः	= कौन हैं ?	नमः	= नमस्कार
उग्ररूपः	= उग्र रूपवाले	देववर	= हे देवताओंमें श्रेष्ठ!	अस्तु	= हो।

प्रसीद	= (आप) प्रसन्न होइये।	विज्ञातुम्	= तत्त्वसे जानना	तव	= आपकी
आद्यम्	= आदिरूप	इच्छामि	= चाहता हूँ;	प्रवृत्तिम्	= प्रवृत्तिको
भवन्तम्	= आपको (मैं)	हि	= क्योंकि (मैं)	न, प्रजानामि	= भलीभाँति नहीं जानता।

व्याख्या—‘आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद’—आप देवरूपसे भी दीख रहे हैं और उग्ररूपसे भी दीख रहे हैं; तो वास्तवमें ऐसे रूपोंको धारण करनेवाले आप कौन हैं?

अत्यन्त उग्र विराटरूपको देखकर भयके कारण अर्जुन नमस्कारके सिवाय और करते भी क्या? जब अर्जुन भगवान्के ऐसे विराटरूपको समझनेमें सर्वथा असमर्थ हो गये, तब अन्तमें कहते हैं कि हे देवताओंमें श्रेष्ठ! आपको नमस्कार है।

भगवान् अपनी जीभसे सबको अपने मुखोंमें लेकर बार-बार चाट रहे हैं, ऐसे भयंकर बर्तावको देखकर अर्जुन प्रार्थना करते हैं कि आप प्रसन्न हो जाइये।

‘विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्’—भगवान्का पहला अवतार विराट्-(संसार-) रूपमें ही हुआ था। इसलिये अर्जुन कहते हैं कि आदिनारायण! आपको मैं स्पष्टरूपसे नहीं जानता हूँ। मैं आपकी इस प्रवृत्तिको भी नहीं जानता हूँ कि आप यहाँ क्यों प्रकट हुए हैं? और आपके मुखोंमें हमारे पक्षके तथा

विपक्षके बहुत-से योद्धा प्रविष्ट होते जा रहे हैं; अतः वास्तवमें आप क्या करना चाहते हैं? तात्पर्य यह हुआ कि आप कौन हैं और क्या करना चाहते हैं—इस बातको मैं जानना चाहता हूँ और इसको आप ही स्पष्टरूपसे बताइये।

एक प्रश्न होता है कि भगवान्का पहला अवतार विराट्-(संसारके) रूपमें हुआ और अभी अर्जुन भगवान्के किसी एक देशमें विराटरूप देख रहे हैं—ये दोनों विराटरूप एक ही हैं या अलग-अलग? इसका उत्तर यह है कि वास्तविक बात तो भगवान् ही जानें, पर विचार करनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि अर्जुनने जो विराटरूप देखा था, उसीके अन्तर्गत यह संसाररूपी विराटरूप भी था। जैसे कहा जाता है कि भगवान् सर्वव्यापी हैं, तो इसका तात्पर्य केवल इतना ही नहीं है कि भगवान् केवल सम्पूर्ण संसारमें ही व्याप्त हैं, प्रत्युत भगवान् संसारसे बाहर भी व्याप्त हैं। संसार तो भगवान्के किसी अंशमें है तथा ऐसी अनन्त सृष्टियाँ भगवान्के किसी अंशमें हैं। ऐसे ही अर्जुन जिस विराट्-रूपको देख रहे हैं, उसमें यह संसार भी है और इसके सिवाय और भी बहुत कुछ है।

परिशिष्ट भाव—भगवान्के ऐश्वर्ययुक्त उग्ररूपको देखकर अर्जुन इतने घबरा जाते हैं कि अपने ही सखा श्रीकृष्णसे पूछ बैठते हैं कि आप कौन हैं!

*सम्बन्ध—*पूर्वश्लोकमें अर्जुनने प्रार्थनापूर्वक जो प्रश्न किया था, उसका यथार्थ उत्तर भगवान् आगेके श्लोकमें देते हैं।

श्रीभगवानुवाच

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः ।

ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥ ३२ ॥

श्रीभगवान् बोले—

लोकक्षयकृत्	= (मैं) सम्पूर्ण लोकोंका नाश करनेवाला	समाहर्तुम्	= लोगोंका संहार करनेके लिये	अवस्थिताः	= खड़े हैं,
प्रवृद्धः	= बढ़ा हुआ	प्रवृत्तः	= (यहाँ) आया हूँ।	सर्वे	= (वे) सब
कालः	= काल	प्रत्यनीकेषु	= (तुम्हारे) प्रतिपक्षमें	त्वाम्	= तुम्हारे
अस्मि	= हूँ (और)	ये	= जो	ऋते	= (युद्ध किये) बिना
इह	= इस समय (मैं)	योधाः	= योद्धालोग	अपि	= भी
लोकान्	= (इन सब)			न	= नहीं
				भविष्यन्ति	= रहेंगे।

व्याख्या—[भगवान्का विश्वरूप विचार करनेपर बहुत विलक्षण मालूम देता है; क्योंकि उसको देखनेमें अर्जुनकी दिव्यदृष्टि भी पूरी तरहसे काम नहीं कर रही है और वे विश्वरूपको कठिनतासे देखे जानेयोग्य बताते हैं— 'दुर्निरीक्ष्यं समन्तात्' (११।१७)। यहाँ भी वे भगवान्से पूछ बैठते हैं कि उग्ररूपवाले आप कौन हैं? ऐसा मालूम देता है कि अगर अर्जुन भयभीत होकर ऐसा नहीं पूछते तो भगवान् और भी अधिक विलक्षणरूपसे प्रकट होते चले जाते। परन्तु अर्जुनके बीचमें ही पूछनेसे भगवान्ने और आगेका रूप दिखाना बन्द कर दिया और अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देने लगे।]

'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धः'—पूर्वश्लोकमें अर्जुनने पूछा था कि उग्ररूपवाले आप कौन हैं— 'आख्याहि मे को भवानुग्ररूपः', उसके उत्तरमें विराटरूप भगवान् कहते हैं कि मैं सम्पूर्ण लोकोंका क्षय (नाश) करनेवाला बड़े भयंकररूपसे बढ़ा हुआ अक्षय काल हूँ।

'लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः'—अर्जुनने पूछा था कि मैं आपकी प्रवृत्तिको नहीं जान रहा हूँ— 'न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्' अर्थात् आप यहाँ क्या करने आये हैं? उसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं कि मैं इस समय दोनों सेनाओंका संहार करनेके लिये ही यहाँ आया हूँ।

'ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः'—तुमने पहले यह कहा था कि मैं युद्ध नहीं करूँगा— 'न योत्स्ये' (२।९), तो क्या तुम्हारे युद्ध किये बिना ये प्रतिपक्षी नहीं मरेंगे? अर्थात् तुम्हारे युद्ध

करने और न करनेसे कोई फर्क नहीं पड़ेगा। कारण कि मैं सबका संहार करनेके लिये प्रवृत्त हुआ हूँ। यह बात तुमने विराटरूपमें भी देख ली है कि तुम्हारे पक्षकी और विपक्षकी दोनों सेनाएँ मेरे भयंकर मुखोंमें प्रविष्ट हो रही हैं।

यहाँ एक शंका होती है कि अर्जुनने अपनी और कौरवपक्षकी सेनाके सभी लोगोंको भगवान्के मुखोंमें जाकर नष्ट होते हुए देखा था, तो फिर भगवान्ने यहाँ केवल प्रतिपक्षकी ही बात क्यों कही कि तुम्हारे युद्ध किये बिना भी ये प्रतिपक्षी नहीं रहेंगे? इसका समाधान है कि अगर अर्जुन युद्ध करते तो केवल प्रतिपक्षियोंको ही मारते और युद्ध नहीं करते तो प्रतिपक्षियोंको नहीं मारते। अतः भगवान् कहते हैं कि तुम्हारे मारे बिना भी ये प्रतिपक्षी नहीं बचेंगे; क्योंकि मैं कालरूपसे सबको खा जाऊँगा। तात्पर्य यह है कि इन सबका संहार तो होनेवाला ही है, तुम केवल अपने युद्धरूप कर्तव्यका पालन करो।

एक शंका यह भी होती है कि यहाँ भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि प्रतिपक्षके योद्धालोग तुम्हारे युद्ध किये बिना भी नहीं रहेंगे, फिर इस युद्धमें प्रतिपक्षके अश्वत्थामा आदि योद्धा कैसे बच गये? इसका समाधान है कि यहाँ भगवान्ने उन्हीं योद्धाओंके मरनेकी बात कही है, जिनको अर्जुन मार सकते हैं और जिनको अर्जुन आगे मारेंगे। अतः भगवान्के कथनका तात्पर्य है कि जिन योद्धाओंको तुम मार सकते हो, वे सभी तुम्हारे मारे बिना ही मर जायँगे। जिनको तुम आगे मारोगे, वे मेरे द्वारा पहलेसे ही मारे हुए हैं— 'मयैवैते निहताः पूर्वमेव' (११।३३)।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने कहा था कि तुम्हारे मारे बिना भी ये प्रतिपक्षी योद्धा नहीं रहेंगे। ऐसी स्थितिमें अर्जुनको क्या करना चाहिये—इसका उत्तर भगवान् आगेके दो श्लोकोंमें देते हैं।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।

मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥ ३३ ॥

तस्मात् = इसलिये
त्वम् = तुम (युद्धके लिये)
उत्तिष्ठ = खड़े हो जाओ
(और)
यशः = यशको
लभस्व = प्राप्त करो (तथा)
शत्रून् = शत्रुओंको
जित्वा = जीतकर

समृद्धम् = धन-धान्यसे
सम्पन्न
राज्यम् = राज्यको
भुङ्क्ष्व = भोगो।
एते, एव = ये सभी
मया = मेरे द्वारा
पूर्वम् = पहलेसे
एव = ही

निहताः = मारे हुए हैं।
सव्यसाचिन् = हे सव्यसाचिन् अर्थात् दोनों हाथोंसे बाण चलानेवाले अर्जुन!
(तुम इनको मारनेमें)
निमित्तमात्रम् = निमित्तमात्र
भव = बन जाओ।

व्याख्या—‘तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व’—हे अर्जुन! जब तुमने यह देख ही लिया कि तुम्हारे मारे बिना भी ये प्रतिपक्षी बचेंगे नहीं, तो तुम कमर कसकर युद्धके लिये खड़े हो जाओ और मुफ्तमें ही यशको प्राप्त कर लो। इसका तात्पर्य है कि यह सब होनहार है, जो होकर ही रहेगी और इसको मैंने तुम्हें प्रत्यक्ष दिखा भी दिया है। अतः तुम युद्ध करोगे तो तुम्हें मुफ्तमें ही यश मिलेगा और लोग भी कहेंगे कि अर्जुनने विजय कर ली?

‘यशो लभस्व’ कहनेका यह अर्थ नहीं है कि यशकी प्राप्ति होनेपर तुम फूल जाओ कि ‘वाह’! मैंने विजय प्राप्त कर ली’, प्रत्युत तुम ऐसा समझो कि जैसे ये प्रतिपक्षी मेरे द्वारा मारे हुए ही मरेंगे, ऐसे ही यश भी जो होनेवाला है, वही होगा। अगर तुम यशको अपने पुरुषार्थसे प्राप्त मानकर राजी होओगे, तो तुम फलमें बँध जाओगे—‘फले सक्तो निबध्यते’ (गीता ५।१२)। तात्पर्य यह हुआ कि लाभ-हानि, यश-अपयश सब प्रभुके हाथमें है। अतः मनुष्य इनके साथ अपना सम्बन्ध न जोड़े; क्योंकि ये तो होनहार हैं।

‘जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्’—समृद्ध राज्यमें दो बातें होती हैं—(१) राज्य निष्कण्टक हो अर्थात् उसमें बाधा देनेवाला कोई भी शत्रु या प्रतिपक्षी न रहे और (२) राज्य धन-धान्यसे सम्पन्न हो अर्थात् प्रजाके पास खूब धन-सम्पत्ति हो; हाथी, घोड़े, गाय, जमीन, मकान, जलाशय आदि आवश्यक वस्तुएँ भरपूर हों; प्रजाके खानेके लिये भरपूर अन्न हो। इन दोनों बातोंसे ही राज्यकी समृद्धता, पूर्णता होती है। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि शत्रुओंको जीतकर तुम ऐसे निष्कण्टक और धन-धान्यसे सम्पन्न राज्यको भोगो।

यहाँ राज्यको भोगनेका अर्थ अनुकूलताका सुख भोगनेमें नहीं है, प्रत्युत यह अर्थ है कि साधारण लोग जिसे भोग मानते हैं, उस राज्यको भी तुम अनायास प्राप्त कर लो।

‘मयैवैते निहताः पूर्वमेव’—तुम मुफ्तमें यश और राज्यको कैसे प्राप्त कर लोगे, इसका हेतु बताते हैं कि यहाँ जितने भी आये हुए हैं, उन सबकी आयु समाप्त हो चुकी है अर्थात् कालरूप मेरे द्वारा ये पहलेसे ही मारे जा चुके हैं।

‘निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्’—बायें हाथसे बाण चलानेके कारण अर्थात् दायें और बायें—दोनों हाथोंसे बाण चलानेके कारण अर्जुनका नाम ‘सव्यसाची’ था*। इस नामसे सम्बोधित करके भगवान् अर्जुनसे यह कहते हैं

कि तुम दोनों हाथोंसे बाण चलाओ अर्थात् युद्धमें अपनी पूरी शक्ति लगाओ, पर बनना है निमित्तमात्र। निमित्तमात्र बननेका तात्पर्य अपने बल, बुद्धि, पराक्रम आदिको कम लगाना नहीं है, प्रत्युत इनको सावधानीपूर्वक पूरा-का-पूरा लगाना है। परन्तु मैंने मार दिया, मैंने विजय प्राप्त कर ली—यह अभिमान नहीं करना है; क्योंकि ये सब मेरे द्वारा पहलेसे ही मारे हुए हैं। इसलिये तुम्हें केवल निमित्तमात्र बनना है, कोई नया काम नहीं करना है।

निमित्तमात्र बनकर कार्य करनेमें अपनी ओरसे किसी भी अंशमें कोई कमी नहीं रहनी चाहिये, प्रत्युत पूरी-की-पूरी शक्ति लगाकर सावधानीपूर्वक कार्य करना चाहिये। कार्यकी सिद्धिमें अपने अभिमानका किंचिन्मात्र भी अंश नहीं रखना चाहिये। जैसे, भगवान् श्रीकृष्णने गोवर्धन पर्वत उठाया तो उन्होंने ग्वालबालोंसे कहा कि तुमलोग भी पर्वतके नीचे अपनी-अपनी लाठियाँ लगाओ। सभी ग्वालबालोंने अपनी-अपनी लाठियाँ लगायीं और वे ऐसा समझने लगे कि हम सबकी लाठियाँ लगनेसे ही पर्वत ऊपर ठहरा हुआ है। वास्तवमें पर्वत ठहरा हुआ था भगवान्के बायें हाथकी छोटी अंगुलीके नखपर! ग्वालबालोंमें जब इस तरहका अभिमान हुआ, तब भगवान्ने अपनी अंगुली थोड़ी-सी नीचे कर ली। अंगुली नीचे करते ही पर्वत नीचे आने लगा तो ग्वालबालोंने पुकारकर भगवान्से कहा—‘अरे दादा! मरे! मरे!! मरे!!!’ भगवान्ने कहा कि जोरसे शक्ति लगाओ। पर वे सब-के-सब एक साथ अपनी पूरी शक्ति लगाकर भी पर्वतको ऊँचा नहीं कर सके। तब भगवान्ने पुनः अपनी अंगुलीसे पर्वतको ऊँचा कर दिया। ऐसे ही साधकको परमात्मप्राप्तिके लिये अपने बल, बुद्धि, योग्यता आदिको तो पूरा-का-पूरा लगाना चाहिये, उसमें कभी किंचिन्मात्र भी कमी नहीं रखनी चाहिये, पर परमात्माका अनुभव होनेमें बल, उद्योग, योग्यता, तत्परता, जितेन्द्रियता, परिश्रम आदिको कारण मानकर अभिमान नहीं करना चाहिये। उसमें तो केवल भगवान्की कृपाको ही कारण मानना चाहिये। भगवान्ने भी गीतामें कहा है कि शाश्वत अविनाशी पदकी प्राप्ति मेरी कृपासे होगी—‘मत्प्रसादा-दवाजोति शाश्वतं पदमव्ययम्’ (१८।५६), और सम्पूर्ण विष्णुको मेरी कृपासे तर जायगा—‘मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि’ (१८।५८)। इससे यह सिद्ध हुआ कि केवल निमित्तमात्र बननेसे साधकको परमात्माकी प्राप्ति

* उभौ मे दक्षिणौ पाणी गाण्डीवस्य विकर्षणे। तेन देवमनुष्येषु सव्यसाचीति मां विदुः ॥ (महा० विराट० ४४।१९)

हो जाती है।

जब साधक अपना बल मानते हुए साधन करता है, तब अपना बल माननेके कारण उसको बार-बार विफलताका अनुभव होता रहता है और तत्त्वकी प्राप्तिमें देरी लगती है। अगर साधक अपने बलका किंचिन्मात्र भी अभिमान न करे तो सिद्धि तत्काल हो जाती है। कारण कि परमात्मा तो नित्यप्राप्त हैं ही, केवल अपने पुरुषार्थके अभिमानके कारण ही उनका अनुभव नहीं हो रहा था। इस पुरुषार्थके अभिमानको दूर करनेमें ही 'निमित्तमात्रं भव' पदोंका तात्पर्य है।

कर्मोंमें जो अपने करनेका अभिमान है कि 'मैं करता हूँ तो होता है, अगर मैं नहीं करूँ तो नहीं होगा', यह

केवल अज्ञताके कारण ही अपनेमें आरोपित कर रखा है। अगर मनुष्य अभिमान और फलेच्छाका त्याग करके प्राप्त परिस्थितिके अनुसार कर्तव्य-कर्म करनेमें निमित्तमात्र बन जाय, तो उसका उद्धार स्वतःसिद्ध है। कारण कि जो होनेवाला है, वह तो होगा ही, उसको कोई अपनी शक्तिसे रोक नहीं सकता; और जो नहीं होनेवाला है, वह नहीं होगा, उसको कोई अपने बल-बुद्धिसे कर नहीं सकता। अतः सिद्धि-असिद्धिमें सम रहते हुए कर्तव्य-कर्मोंका पालन किया जाय तो मुक्ति स्वतःसिद्ध है। बन्धन, नरकोंकी प्राप्ति, चौरासी लाख योनियोंकी प्राप्ति—ये सभी कृतिसाध्य हैं और मुक्ति, कल्याण, भगवत्प्राप्ति, भगवत्प्रेम आदि सभी स्वतःसिद्ध हैं।

परिशिष्ट भाव—'निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्'—निमित्तमात्र बननेका तात्पर्य यह नहीं है कि नाममात्रके लिये कर्म करो, प्रत्युत इसका तात्पर्य है कि अपनी पूरी-की-पूरी शक्ति लगाओ, पर अपनेको कारण मत मानो अर्थात् अपने उद्योगमें कमी भी मत रखो और अपनेमें अभिमान भी मत करो। भगवान्ने जो कुछ बल, विद्या, योग्यता आदि दी है, वह सब लगानेके लिये दी है; परन्तु अपना पूरा बल आदि लगाकर हम उसको प्राप्त नहीं कर सकते। प्राप्ति तो उनकी कृपासे ही होगी।

भगवान्ने अपनी ओरसे हमारेपर कृपा करनेमें कोई कमी नहीं रखी है। जैसे बछड़ा एक थनसे ही दूध पीता है, पर भगवान्ने गायको चार थन दिये हैं! ऐसे ही भगवान् चारों तरफसे हमारेपर कृपा कर रहे हैं! हमें तो निमित्तमात्र बनना है। अर्जुनके सामने तो युद्ध था, इसलिये भगवान् उनसे कहते हैं कि तुम निमित्तमात्र बनकर युद्ध करो, तुम्हारी विजय होगी। इसी तरह हमारे सामने संसार है; अतः हम भी निमित्तमात्र बनकर साधन करें तो संसारपर हमारी विजय हो जायगी।

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।

मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥ ३४ ॥

द्रोणम्	= द्रोण	तथा	= तथा	जहि	= मारो ।
च	= और	अन्यान्		मा, व्यथिष्ठाः	= तुम व्यथा मत करो ।
भीष्मम्	= भीष्म	अपि	= अन्य सभी	युध्यस्व	= (और) युद्ध करो ।
च	= तथा	मया	= मेरे द्वारा	रणे	= युद्धमें (तुम निःसन्देह)
जयद्रथम्	= जयद्रथ	हतान्	= मारे हुए	सपत्नान्	= वैरियोंको
च	= और	योधवीरान्	= शूरवीरोंको	जेतासि	= जीतोगे ।
कर्णम्	= कर्ण	त्वम्	= तुम		

व्याख्या—'द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् मया हतांस्त्वं जहि'—तुम्हारी दृष्टिमें गुरु द्रोणाचार्य, पितामह भीष्म, जयद्रथ और कर्ण तथा अन्य जितने प्रतिपक्षके नामी शूरवीर हैं, जिनपर विजय करना बड़ा

कठिन काम है*, उन सबकी आयु समाप्त हो चुकी है अर्थात् वे सब कालरूप मेरे द्वारा मारे जा चुके हैं। इसलिये हे अर्जुन! मेरे द्वारा मारे हुए शूरवीरोंको तुम मार दो।

भगवान्के द्वारा पूर्वश्लोकमें 'मयैवैते निहताः पूर्वमेव'

* भीष्म, द्रोण और कर्ण अपनी शूरवीरताके कारण संसारमें प्रसिद्ध थे; अतः इनको जीतनेमें कठिनता थी। जयद्रथ तो ऐसा कोई नामी शूरवीर था नहीं, पर उसको एक वरदान था कि 'तुम्हारा सिर कोई पृथ्वीपर गिरा देगा तो उस (सिर गिरानेवाले-) के सिरके सौ टुकड़े हो जायँगे। इस वरदानके कारण जयद्रथको मारनेमें कठिनता थी।

और यहाँ 'मया हतांस्त्वं जहि' कहनेका तात्पर्य यह है कि तुम इनपर विजय करो, पर विजयका अभिमान मत करो; क्योंकि ये सब-के-सब मेरे द्वारा पहलेसे ही मारे हुए हैं।

'मा व्यथिष्ठा युध्यस्व'—अर्जुन पितामह भीष्म और गुरु द्रोणाचार्यको मारनेमें पाप समझते थे, यही अर्जुनके मनमें व्यथा थी। अतः भगवान् कह रहे हैं कि वह व्यथा भी तुम मत करो अर्थात् भीष्म और द्रोण आदिको मारनेसे हिंसा आदि दोषोंका विचार करनेकी तुम्हें किंचिन्मात्र भी आवश्यकता नहीं है। तुम अपने क्षात्रधर्मका अनुष्ठान करो अर्थात् युद्ध करो। इसका त्याग मत करो।

'जेतासि रणे सप्तान्'—इस युद्धमें तुम वैरियोंको जीतोगे। ऐसा कहनेका तात्पर्य है कि पहले (गीता—दूसरे अध्यायके छठे श्लोकमें) अर्जुनने कहा था कि हम उनको जीतेंगे या वे हमें जीतेंगे—इसका हमें पता नहीं। इस प्रकार अर्जुनके मनमें सन्देह था। यहाँ ग्यारहवें अध्यायके आरम्भमें भगवान्ने अर्जुनको विश्वरूप देखनेकी आज्ञा दी, तो उसमें भगवान्ने कहा कि तुम और भी जो कुछ देखना चाहो, वह देख लो (सातवाँ श्लोक) अर्थात् किसकी जय होगी और किसकी पराजय होगी—यह भी तुम देख लो। फिर भगवान्ने विराटरूपके अन्तर्गत भीष्म, द्रोण और कर्णके नाशकी बात दिखा दी और इस श्लोकमें वह बात स्पष्टरूपसे कह दी कि युद्धमें निःसन्देह तुम्हारी विजय होगी।

विशेष बात

साधकको अपने साधनमें बाधकरूपसे नाशवान् पदार्थोंका, व्यक्तियोंका जो आकर्षण दीखता है, उससे वह घबरा जाता है कि मेरा उद्योग कुछ भी काम नहीं कर रहा है; अतः यह आकर्षण कैसे मिटे! भगवान् 'मयैवैते निहताः पूर्वमेव' और 'मया हतांस्त्वं जहि' पदोंसे ढाढ़स बँधाते हुए मानो

परिशिष्ट भाव—भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि ये सभी शूरवीर मेरे द्वारा पहलेसे ही मारे हुए हैं। इससे यह समझना चाहिये कि साधकके राग-द्वेष, काम-क्रोध आदि भी पहलेसे ही मारे हुए हैं अर्थात् सत्तारहित हैं। इनको हमने ही सत्ता और महत्ता देकर अपनेमें स्वीकार किया है। वास्तवमें इनकी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं—'नासतो विद्यते भावः' (गीता २।१६)।

सम्बन्ध—विराटरूप भगवान्के अत्यन्त उग्ररूपको देखकर अर्जुनने इकतीसवें श्लोकमें पूछा कि आप कौन हैं और यहाँ क्या करने आये हैं? बत्तीसवें श्लोकमें भगवान्ने उसका उत्तर दिया कि मैं बढ़ा हुआ काल हूँ और सबका संहार करनेके लिये यहाँ आया हूँ। फिर तैंतीसवें-चौतीसवें श्लोकोंमें भगवान्ने अर्जुनको आश्वासन दिया कि मेरे द्वारा मारे हुएको ही तू मार दे, तेरी जीत होगी। इसके बाद अर्जुनने क्या किया—इसको संजय आगेके श्लोकमें बताते हैं।

यह आश्वासन देते हैं कि तुम्हारेको अपने साधनमें जो वस्तुओं आदिका आकर्षण दिखायी देता है और वृत्तियाँ खराब होती हुई दीखती हैं, ये सब-के-सब विघ्न नाशवान् हैं और मेरे द्वारा नष्ट किये हुए हैं। इसलिये साधक इनको महत्त्व न दे।

'दुर्गुण-दुराचार दूर नहीं हो रहे हैं, क्या करूँ!'—ऐसी चिन्ता होनेमें तो साधकका अभिमान ही कारण है और 'ये दूर होने चाहिये और जल्दी होने चाहिये'—इसमें भगवान्के विश्वासकी, भरोसेकी, आश्रयकी कमी है। दुर्गुण-दुराचार अच्छे नहीं लगते, सुहाते नहीं, इसमें दोष नहीं है। दोष है चिन्ता करनेमें। इसलिये साधकको कभी चिन्ता नहीं करनी चाहिये।

'मेरे द्वारा मारे हुएको तू मार'—इस कथनसे यह शंका होती है कि कालरूप भगवान्के द्वारा सब-के-सब मारे हुए हैं तो संसारमें कोई किसीको मारता है तो वह भगवान्के द्वारा मारे हुएको ही मारता है। अतः मारनेवालेको पाप नहीं लगना चाहिये। इसका समाधान यह है कि किसीको मारनेका या दुःख देनेका अधिकार मनुष्यको नहीं है। उसका तो सबकी सेवा करनेका, सबको सुख पहुँचानेका ही अधिकार है। अगर मारनेका अधिकार मनुष्यको होता तो विधि-निषेध अर्थात् शुभ-कर्म करो, अशुभ-कर्म मत करो—ऐसा शास्त्रोंका, गुरुजनों और सन्तोंका कहना ही व्यर्थ हो जायगा। वह विधि-निषेध किसपर लागू होगा? अतः मनुष्य किसीको मारता है या दुःख देता है तो उसको पाप लगेगा ही; क्योंकि यह उसकी राग-द्वेषपूर्वक अनधिकार चेष्टा है। परन्तु क्षत्रियके लिये शास्त्रविहित युद्ध प्राप्त हो जाय, तो स्वार्थ और अहंकारका त्याग करके कर्तव्य-पालन करनेसे पाप नहीं लगता, क्योंकि यह क्षत्रियका स्वधर्म है।

सञ्जय उवाच

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी ।

नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य ॥ ३५ ॥

संजय बोले—

केशवस्य	= भगवान् केशवका	कृताञ्जलिः	= हाथ जोड़कर	प्रणम्य	= प्रणाम
एतत्	= यह	नमस्कृत्वा	= नमस्कार करके		करके
वचनम्	= वचन		(और)	सगद्गदम्	= गद्गद वाणीसे
श्रुत्वा	= सुनकर	भीतभीतः	= भयभीत होते हुए	कृष्णम्	= भगवान्
वेपमानः	= (भयसे) काँपते हुए	एव	= भी		कृष्णसे
किरीटी	= किरीटधारी अर्जुन	भूयः	= फिर	आह	= बोले ।

व्याख्या—‘एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलि-
वेपमानः किरीटी’—अर्जुन तो पहलेसे भयभीत थे ही,
फिर भगवान्ने ‘मैं काल हूँ, सबको खा जाऊँगा’—ऐसा
कहकर मानो डरे हुएको और डरा दिया। तात्पर्य है कि
‘कालोऽस्मि’—यहाँसे लेकर ‘मया हतांस्त्वं जहि’—
यहाँतक भगवान्ने नाश-ही-नाशकी बात बतायी। इसे
सुनकर अर्जुन डरके मारे काँपने लगे और हाथ जोड़कर
बार-बार नमस्कार करने लगे।

अर्जुनने इन्द्रकी सहायताके लिये जब काल, खंज
आदि राक्षसोंको मारा था, तब इन्द्रने प्रसन्न होकर अर्जुनको
सूर्यके समान प्रकाशवाला एक दिव्य ‘किरीट’ (मुकुट)
दिया था। इसीसे अर्जुनका नाम ‘किरीटी’ पड़ गया*। यहाँ
‘किरीटी’ कहनेका तात्पर्य है कि जिन्होंने बड़े-बड़े
राक्षसोंको मारकर इन्द्रकी सहायता की थी, वे अर्जुन भी
भगवान्के विराटरूपको देखकर कम्पित हो रहे हैं।

‘नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः
प्रणम्य’—काल सबका भक्षण करता है; किसीको भी
छोड़ता नहीं। कारण कि यह भगवान्की संहारशक्ति है, जो
हरदम संहार करती ही रहती है। इधर अर्जुनने जब
भगवान्के अत्युग्र विराटरूपको देखा तो उनको लगा कि
भगवान् कालके भी काल—महाकाल हैं। उनके सिवाय
दूसरा कोई भी कालसे बचानेवाला नहीं है। इसलिये अर्जुन
भयभीत होकर भगवान्को बार-बार प्रणाम करते हैं।

‘भूयः’ कहनेका तात्पर्य है कि पहले पंद्रहवेंसे इकतीसवें
श्लोकतक अर्जुनने भगवान्की स्तुति और नमस्कार किया,
अब फिर भगवान्की स्तुति और नमस्कार करते हैं।

हर्षसे भी वाणी गद्गद होती है और भयसे भी। यहाँ
भयका विषय है। अगर अर्जुन बहुत ज्यादा भयभीत होते
तो वे बोल ही न सकते। परन्तु अर्जुन गद्गद वाणीसे बोलते
हैं। इससे सिद्ध होता है कि वे इतने भयभीत नहीं हैं।

सम्बन्ध—अब आगेके श्लोकसे अर्जुन भगवान्की स्तुति करना आरम्भ करते हैं।

अर्जुन उवाच

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।

रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः ॥ ३६ ॥

अर्जुन बोले—

हृषीकेश	= हे अन्तर्यामी भगवन्!	लीलाका) कीर्तन करनेसे	च	= और	
तव	= आपके	जगत्	= यह सम्पूर्ण जगत्	अनुरज्यते	= अनुराग-(प्रेम) को प्राप्त हो
प्रकीर्त्या	= (नाम, गुण,	प्रहृष्यति	= हर्षित हो रहा है		रहा है।

* पुरा शक्रेण मे दत्तं युध्यतो दानवर्षभैः। किरीटं मूर्ध्नि सूर्याभं तेनाहुर्मा किरीटिनम् ॥ (महा० विराट० ४४। १७)

भीतानि	= (आपके नाम, गुण आदिके कीर्तनसे) भयभीत होकर	द्रवन्ति	= भागते हुए जा रहे हैं	नमस्यन्ति	= आपको नमस्कार कर रहे हैं।
रक्षांसि	= राक्षसलोग	च	= और	स्थाने	= यह सब होना उचित
दिशः	= दसों दिशाओंमें	सर्वे	= सम्पूर्ण		ही है।
		सिद्धसङ्घः	= सिद्धगण		

व्याख्या—[संसारमें यह देखा जाता है कि जो व्यक्ति अत्यन्त भयभीत हो जाता है, उससे बोला नहीं जाता। अर्जुन भगवान्‌का अत्युग्ररूप देखकर अत्यन्त भयभीत हो गये थे। फिर उन्होंने इस (छत्तीसवें) श्लोकसे लेकर छियालीसवें श्लोकतक भगवान्‌की स्तुति कैसे की? इसका समाधान यह है कि यद्यपि अर्जुन भगवान्‌के अत्यन्त उग्र (भयानक) विश्वरूपको देखकर भयभीत हो रहे थे, तथापि वे भयभीत होनेके साथ-साथ हर्षित भी हो रहे थे, जैसा कि अर्जुनने आगे कहा है—‘अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे’ (११।४५)। इससे सिद्ध होता है कि अर्जुन इतने भयभीत नहीं हुए थे, जिससे कि वे भगवान्‌की स्तुति भी न कर सकें।]

‘हृषीकेश’—इन्द्रियोंका नाम ‘हृषीक’ है और उनके ‘ईश’ अर्थात् मालिक भगवान् हैं। यहाँ इस सम्बोधनका तात्पर्य है कि आप सबके हृदयमें विराजमान रहकर इन्द्रियाँ, अन्तःकरण आदिको सत्ता-स्फूर्ति देनेवाले हैं।

‘तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च’—संसारसे विमुख होकर आपको प्रसन्न करनेके लिये भक्तलोग आपके नामोंका, गुणोंका कीर्तन करते हैं, आपकी लीलाके पद गाते हैं, आपके चरित्रोंका कथन और श्रवण करते हैं, तो इससे सम्पूर्ण जगत् हर्षित होता है। तात्पर्य यह है कि संसारकी तरफ चलनेसे तो सबको जलन होती है, परस्पर राग-द्वेष पैदा होते हैं, पर जो आपके सम्मुख होकर आपका भजन-कीर्तन करते हैं, उनके द्वारा मात्र जीवोंको शान्ति मिलती है, मात्र जीव प्रसन्न हो जाते हैं! उन जीवोंको पता लगे चाहे न लगे, पर ऐसा होता है।

जैसे भगवान् अवतार लेते हैं तो सम्पूर्ण स्थावर-जंगम, जड़-चेतन जगत् हर्षित हो जाता है अर्थात् वृक्ष, लता आदि स्थावर; देवता, मनुष्य, ऋषि, मुनि, किन्नर, गन्धर्व, पशु, पक्षी आदि जंगम; नदी, सरोवर आदि जड़—सब-के-सब

प्रसन्न हो जाते हैं। ऐसे ही भगवान्‌के नाम, लीला, गुण आदिके कीर्तनका सभीपर असर पड़ता है और सभी हर्षित होते हैं।

भगवान्‌के नामों और गुणोंका कीर्तन करनेसे जब मनुष्य हर्षित हो जाते हैं अर्थात् उनका मन भगवान्‌में तल्लीन हो जाता है, तब (भगवान्‌की तरफ वृत्ति होनेसे,) उनका भगवान्‌में अनुराग, प्रेम हो जाता है।

‘रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति’—जितने राक्षस हैं; भूत, प्रेत, पिशाच हैं, वे सब-के-सब आपके नामों और गुणोंका कीर्तन करनेसे, आपके चरित्रोंका पठन-कथन करनेसे भयभीत होकर भाग जाते हैं।*

राक्षस, भूत, प्रेत आदिके भयभीत होकर भाग जानेमें भगवान्‌के नाम, गुण आदि कारण नहीं हैं, प्रत्युत उनके अपने खुदके पाप ही कारण हैं। अपने पापोंके कारण ही वे पवित्रोंमें महान् पवित्र और मंगलोंमें महान् मंगलस्वरूप भगवान्‌के गुणगानको सह नहीं सकते और जहाँ गुणगान होता है, वहाँ वे टिक नहीं सकते। अगर उनमेंसे कोई टिक जाता है तो उसका सुधार हो जाता है, उसकी वह दुष्ट योनि छूट जाती है और उसका कल्याण हो जाता है।

‘सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घः’—सिद्धोंके, सन्त-महात्माओंके और भगवान्‌की तरफ चलनेवाले साधकोंके जितने समुदाय हैं, वे सब-के-सब आपके नामों और गुणोंके कीर्तनको तथा आपकी लीलाओंको सुनकर आपको नमस्कार करते हैं।

यह ध्यान रहे कि यह सब-का-सब दृश्य भगवान्‌के नित्य, दिव्य, अलौकिक विराटरूपमें ही है। उसीमें एक-एकसे विचित्र लीलाएँ हो रही हैं।

‘स्थाने’—यह सब यथोचित ही है और ऐसा ही होना चाहिये तथा ऐसा ही हो रहा है। कारण कि आपकी तरफ चलनेसे शान्ति, आनन्द, प्रसन्नता होती है, विघ्नोंका

* न यत्र श्रवणादीनि रक्षोघ्नानि स्वकर्मसु। कुर्वन्ति सात्वतां भर्तुर्यातुधान्यश्च तत्र हि॥ (श्रीमद्भा० १०।६।३)

‘जहाँ लोग अपने प्रतिदिनके कामोंमें राक्षसोंके भयको दूर भगानेवाले भगवान्‌के नाम, गुण, लीलाके श्रवण, कीर्तन आदि नहीं करते, वहाँ ऐसी राक्षसियोंका बल चलता है।’

नाश होता है, और आपसे विमुख होनेपर दुःख-ही-दुःख, अशान्ति-ही-अशान्ति होती है। तात्पर्य है कि आपका अंश जीव आपके सम्मुख होनेसे सुख पाता है, उसमें शान्ति, क्षमा, नम्रता आदि गुण प्रकट हो जाते हैं और आपके विमुख होनेसे दुःख पाता है—यह सब उचित ही है।

यह जीवात्मा परमात्मा और संसारके बीचका है। यह स्वरूपसे तो साक्षात् परमात्माका अंश है और प्रकृतिके

अंशको इसने पकड़ा है। अब यह ज्यों-ज्यों प्रकृतिकी तरफ झुकता है, त्यों-ही-त्यों इसमें संग्रह और भोगोंकी इच्छा बढ़ती है। संग्रह और भोगोंकी प्राप्तिके लिये यह ज्यों-ज्यों उद्योग करता है, त्यों-ही-त्यों इसमें अभाव, अशान्ति, दुःख, जलन, सन्ताप आदि बढ़ते चले जाते हैं। परन्तु संसारसे विमुख होकर यह जीवात्मा ज्यों-ज्यों भगवान्के सम्मुख होता है, त्यों-ही-त्यों यह आनन्दित होता है और इसका दुःख मिटता चला जाता है।

परिशिष्ट भाव—यहाँ 'स्थाने' पद पीछे और आगे—दोनों जगह आये श्लोकोंके लिये समझना चाहिये। भगवान्ने बत्तीसवें, तैंतीसवें और चौतीसवें श्लोकोंमें जो बात कही थी और जो बात इस श्लोकमें कही है, उसके लिये अर्जुन कहते हैं कि 'प्रतिपक्षके सभी योद्धा मेरे द्वारा मारे हुए हैं, तू केवल निमित्त बन जा' आदि जो कुछ आपने कहा है, वह आपका कथन उचित ही है। 'आपके नाम, गुण आदिका कीर्तन करनेसे जगत् हर्षित हो रहा है और राक्षसलोग भयभीत होकर भाग रहे हैं' आदि जो हो रहा है, वह भी ठीक ही हो रहा है। आपके द्वारा ही यह सब लीला हो रही है, मेरे द्वारा नहीं।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें 'स्थाने' पदसे जो औचित्य बताया है, उसकी आगेके चार श्लोकोंमें पुष्टि करते हैं।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे ।

अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत् ॥ ३७ ॥

महात्मन्	= हे महात्मन्!	सिद्धगण)	त्वम्	= आप
गरीयसे	= गुरुओंके भी	कस्मात्,	अक्षरम्	= अक्षरस्वरूप हैं;
	गुरु	न, नमेरन्	सत्	= (आप) सत् भी हैं,
च	= और	= नमस्कार क्यों नहीं	असत्	= असत् भी हैं (और)
ब्रह्मणः	= ब्रह्माके	करें ?	तत्परम्	= उनसे (सत्-
अपि	= भी	अनन्त		= उनसे) पर भी
आदिकर्त्रे	= आदिकर्ता	= (क्योंकि)	यत्	= जो कुछ है, (वह
ते	= आपके लिये (वे	देवेश		भी आप ही हैं।)
		= हे देवेश!		
		जगन्निवास		
		= हे जगन्निवास!		

व्याख्या—'कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे'—आदिरूपसे प्रकट होनेवाले महान् स्वरूप आपको (पूर्वोक्त सिद्धगण) नमस्कार क्यों न करें? नमस्कार दोको किया जाता है—(१) जिनसे मनुष्यको शिक्षा मिलती है, प्रकाश मिलता है, ऐसे आचार्य, गुरुजन आदिको नमस्कार किया जाता है और (२) जिनसे हमारा जन्म हुआ है, उन माता-पिताको तथा आयु, विद्या आदिमें अपनेसे बड़े पुरुषोंको नमस्कार किया जाता है। अर्जुन कहते हैं कि आप गुरुओंके भी गुरु हैं—'गरीयसे'* और

आप सृष्टिकी रचना करनेवाले पितामह ब्रह्माजीको भी उत्पन्न करनेवाले हैं—'ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।' अतः सिद्ध महापुरुष आपको नमस्कार करें, यह उचित ही है।

'अनन्त'—आपको देश, काल, वस्तु, व्यक्ति आदि किसीकी भी दृष्टिसे देखें, आपका अन्त नहीं आता। तात्पर्य है कि आपको देशकी दृष्टिसे देखें तो आपका कहाँसे आरम्भ हुआ है और कहाँ जाकर अन्त होगा—ऐसा है ही नहीं। कालकी दृष्टिसे देखा जाय तो आप कबसे हैं और कबतक रहेंगे—इसका कोई अन्त नहीं है। वस्तु, व्यक्ति

* पतंजलि महाराजने कहा है कि वे परमात्मा पहले-से-पहले जो ब्रह्मा आदि प्रकट हुए हैं, उनके भी गुरु हैं—'पूर्वेषामपि गुरुः।' (योगदर्शन १। २६)

आदिकी दृष्टिसे देखें तो आप वस्तु, व्यक्ति आदि कितने रूपोंमें हैं—इसका कोई आदि और अन्त नहीं है। सब दृष्टियोंसे आप अनन्त-ही-अनन्त हैं। बुद्धि आदि कोई भी दृष्टि आपको देखने जाती है तो वह दृष्टि खत्म हो जाती है, पर आपका अन्त नहीं आता। इसलिये सब तरफसे आप सीमारहित हैं, अपार हैं, अगाध हैं।

‘देवेश’—इन्द्र, वरुण आदि अनेक देवता हैं, जिनका शास्त्रोंमें वर्णन आता है। उन सब देवताओंके आप मालिक हैं, नियन्ता हैं, शासक हैं। इसलिये आप ‘देवेश’ हैं।

‘जगन्निवास’—अनन्त सृष्टियाँ आपके किसी अंशमें विस्तृतरूपसे निवास कर रही हैं, तो भी आपका वह अंश पूरा नहीं होता, प्रत्युत खाली ही रहता है। ऐसे आप असीम

‘जगन्निवास’ हैं।

‘त्वमक्षरं सदसत्त्परं यत्’—आप अक्षरस्वरूप हैं*। जिसकी स्वतःसिद्ध स्वतन्त्र सत्ता है, वह ‘सत्’ भी आप हैं; और जिसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, प्रत्युत सत्के आश्रित ही जिसकी सत्ता प्रतीत होती है, वह ‘असत्’ भी आप ही हैं। जो सत् और असत्—दोनोंसे विलक्षण है, जिसका किसी तरहसे निर्वचन नहीं हो सकता, मन-बुद्धि, इन्द्रियाँ आदि किसीसे भी जिसकी कल्पना नहीं कर सकते अर्थात् जो सम्पूर्ण कल्पनाओंसे सर्वथा अतीत है, वह भी आप ही हैं।

तात्पर्य यह हुआ कि आपसे बढ़कर दूसरा कोई ही नहीं, हो सकता नहीं और होना सम्भव भी नहीं—ऐसे आपको नमस्कार करना उचित ही है।

परिशिष्ट भाव—नवें अध्यायमें आये ‘सदसच्चाहम्’ (९।१९) पदसे और यहाँ आये ‘सदसत्त्परं यत्’ पदोंसे परमात्माके सगुण रूपकी अनन्तता, समग्रता सिद्ध होती है।

सत् और असत्—दोनों सापेक्ष होनेसे लौकिक हैं और जो इनसे परे है, वह निरपेक्ष होनेसे अलौकिक है। लौकिक और अलौकिक—दोनों ही समग्र परमात्माके रूप हैं। परमात्माकी परा और अपरा प्रकृति सत्-असत्से परे नहीं है, पर परमात्मा सत्-असत्से परे भी हैं—‘मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय’ (गीता ७।७)।

सगुण (समग्र) के अन्तर्गत तो निर्गुण आ सकता है, पर निर्गुणके अन्तर्गत सगुण नहीं आ सकता। कारण कि सगुणमें निर्गुणका निषेध नहीं है, जबकि निर्गुणमें गुणोंका निषेध है। अतः निर्गुण एकदेशीय होता है अर्थात् उसके अन्तर्गत सब कुछ नहीं आता। परन्तु सगुण (समग्र) के अन्तर्गत सब कुछ आ जाता है, कुछ भी बाकी नहीं रहता। इसलिये अर्जुन ‘सदसत्त्परं यत्’ पदोंसे मानो यह कहते हैं कि सत् भी आप हैं, असत् भी आप हैं और सत्-असत्के सिवाय जो भी हमारी कल्पनामें आ सकता है, वह भी आप ही हैं। ज्ञानकी दृष्टिसे जो न सत् कहा जा सकता है और न असत् कहा जा सकता है, वह अनिर्वचनीय तत्त्व भी आप ही हैं—‘न सत्तन्नासदुच्यते’ (गीता १३।१२)। तात्पर्य है कि आपके सिवाय न तो कोई हुआ है, न कोई है, न कोई होगा और न कोई हो ही सकता है अर्थात् केवल आप-ही-आप हैं।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।

वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥ ३८ ॥

त्वम्	= आप (ही)	विश्वस्य	= संसारके	परम्	= परम
आदिदेवः	= आदिदेव	परम्	= परम	धाम	= धाम
च	= और	निधानम्	= आश्रय हैं।	असि	= हैं।
पुराणः	= पुराण	वेत्ता	= (आप ही) सबको जाननेवाले,	अनन्तरूप	= हे अनन्तरूप!
पुरुषः	= पुरुष हैं (तथा)	वेद्यम्	= जाननेयोग्य	त्वया	= आपसे (ही)
त्वम्	= आप (ही)	च	= और	विश्वम्	= सम्पूर्ण संसार
अस्य	= इस			ततम्	= व्याप्त है।

व्याख्या—‘त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणः’—आप सम्पूर्ण प्रकट होते हैं। आप पुराणपुरुष हैं; क्योंकि आप सदासे देवताओंके आदिदेव हैं; क्योंकि सबसे पहले आप ही हैं और सदा ही रहनेवाले हैं।

* इसी अक्षर ब्रह्मको अर्जुनने पहले ‘त्वमक्षरं परमं वेदितव्यम्’ (११।१८) पदोंसे और यहाँ ‘त्वमक्षरम्’ पदसे कहा है।

‘त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्’—देखने, सुनने, समझने और जाननेमें जो कुछ संसार आता है; और संसारकी उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय आदि जो कुछ होता है, उस सबके परम आधार आप हैं।

‘वेत्तासि’—आप सम्पूर्ण संसारको जाननेवाले हैं अर्थात् भूत, भविष्य और वर्तमान काल तथा देश, वस्तु, व्यक्ति आदि जो कुछ है, उन सबको जाननेवाले (सर्वज्ञ) आप ही हैं।

‘वेद्यम्’—वेदों, शास्त्रों, सन्त-महात्माओं आदिके

परिशिष्ट भाव—अर्जुन भगवान्की कही बातको ही कह रहे हैं—‘आदिदेवः’—इसको भगवान्ने ‘अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः’ (१०। २) पदोंसे कहा था। यद्यपि प्रकृति भी अनादि है—‘प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि’ (१३। १९), तथापि अनादि होते हुए भी प्रकृति परमात्माके अधीन, आश्रित है। कारण कि प्रकृति परमात्माकी परिवर्तनशील शक्ति है, पर परमात्मा किसीकी शक्ति नहीं हैं, प्रत्युत शक्तिमान् हैं।

‘पुराणः’—इसको भगवान्ने ‘पुराणम्’ (८। ९) पदसे कहा था। भगवान्से पुराना कोई नहीं है; क्योंकि वे कालातीत हैं।

‘परं निधानम्’—इसको भगवान्ने ‘निधानम्’ (९। १८) पदसे कहा था। सृष्टि अनन्त है, पर वह भी भगवान्के एक देशमें रहती है।

‘वेत्ता’—इसको भगवान्ने ‘वेदाहं समतीतानि०’ (७। २६) आदि पदोंसे कहा था।

‘वेद्यम्’—इसको भगवान्ने ‘वेद्यम्’ (९। १७) पदसे कहा था।

‘परं धाम’—इसको भगवान्ने ‘यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्भाम परमं मम’ (८। २१) पदोंसे कहा था।

‘त्वया ततं विश्वम्’—इसको भगवान्ने ‘येन सर्वमिदं ततम्’ (८। २२) और ‘मया ततमिदं सर्वम्’ (९। ४) पदोंसे कहा था।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।

नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ ३९ ॥

त्वम्	= आप ही	प्रपितामहः	= प्रपितामह (ब्रह्मा- जीके भी पिता) हैं।	च	= और
वायुः	= वायु,	ते	= आपको	पुनः	= फिर
यमः	= यमराज,	सहस्रकृत्वः	= हजारों बार	अपि	= भी
अग्निः	= अग्नि,	नमः	= नमस्कार	ते	= आपको
वरुणः	= वरुण,	अस्तु	= हो!	भूयः	= बार-बार
शशाङ्कः	= चन्द्रमा,	नमः	= नमस्कार हो!	नमः	= नमस्कार हो!
प्रजापतिः	= दक्ष आदि प्रजापति			नमः	= नमस्कार हो!
च	= और				

व्याख्या—‘वायुः’—जिससे सबको प्राण मिल रहे हैं, मात्र प्राणी जी रहे हैं, सबको सामर्थ्य मिल रही है, वह वायु आप ही हैं।

‘यमः’—जो संयमनीपुरीके अधिपति हैं और सम्पूर्ण संसारपर जिनका शासन चलता है, वे यम आप ही हैं।

द्वारा जाननेयोग्य केवल आप ही हैं।

‘परं धाम’—जिसको मुक्ति, परमपद आदि नामोंसे कहते हैं, जिसमें जाकर फिर लौटकर नहीं आना पड़ता और जिसको प्राप्त करनेपर करना, जानना और पाना कुछ भी बाकी नहीं रहता, ऐसे परमधाम आप हैं।

‘अनन्तरूप’—विराटरूपसे प्रकट हुए आपके रूपोंका कोई पारावार नहीं है। सब तरफसे ही आपके अनन्त रूप हैं।

‘त्वया ततं विश्वम्’—आपसे यह सम्पूर्ण संसार व्याप्त है अर्थात् संसारके कण-कणमें आप ही व्याप्त हो रहे हैं।

‘अग्निः’—जो सबमें व्याप्त रहकर शक्ति देता है, प्रकट होकर प्रकाश देता है और जठराग्निके रूपमें अन्नका पाचन करता है, वह अग्नि आप ही हैं।

‘वरुणः’—जिसके द्वारा सबको जीवन मिल रहा है, उस जलके अधिपति वरुण आप ही हैं।

‘शशाङ्कः’—जिससे सम्पूर्ण ओषधियोंका, वनस्पतियों-का पोषण होता है, वह चन्द्रमा आप ही हैं।

‘प्रजापतिः’—प्रजाको उत्पन्न करनेवाले दक्ष आदि प्रजापति आप ही हैं।

‘प्रपितामहः’—पितामह ब्रह्माजीको भी प्रकट करनेवाले होनेसे आप प्रपितामह हैं।

‘नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते’—इन्द्र आदि जितने भी देवता हैं, वे सब-के-सब आप ही हैं। आप अनन्तस्वरूप हैं। आपकी मैं क्या स्तुति करूँ? क्या महिमा गाऊँ? मैं तो आपको हजारों

बार नमस्कार ही कर सकता हूँ और कर ही क्या सकता हूँ?

कुछ भी करनेकी जिम्मेवारी मनुष्यपर तभीतक रहती है, जबतक अपनेमें करनेका बल अर्थात् अभिमान रहता है। जब अपनेमें कुछ भी करनेकी सामर्थ्य नहीं रहती, तब करनेकी जिम्मेवारी बिलकुल नहीं रहती। अब वह केवल नमस्कार ही करता है अर्थात् अपने-आपको सर्वथा भगवान्के समर्पित कर देता है। फिर करने-करानेका सब काम शरण्य-(भगवान्-) का ही रहता है, शरणागतका नहीं।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।

अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाज्जोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४० ॥

सर्व = हे सर्वस्वरूप!
ते = आपको
पुरस्तात् = आगेसे (भी)
नमः = नमस्कार हो
अथ = और
पृष्ठतः = पीछेसे (भी नमस्कार हो!)

सर्वतः = सब ओरसे (दसों दिशाओंसे)
एव = ही
नमः = नमस्कार
अस्तु = हो
अनन्तवीर्यं = हे अनन्तवीर्य!
अमित-
विक्रमः = असीम पराक्रमवाले

त्वम् = आपने
सर्वम् = सबको (एक देशमें)
समाज्जोषि = समेट रखा है;
ततः = अतः
सर्वः = सब कुछ
असि = (आप ही) हैं।

व्याख्या—‘नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व’—अर्जुन भयभीत हैं। मैं क्या बोलूँ—यह उनकी समझमें नहीं आ रहा है। इसलिये वे आगेसे, पीछेसे सब ओरसे अर्थात् दसों दिशाओंसे केवल नमस्कार-ही-नमस्कार कर रहे हैं।

‘अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वम्’—‘अनन्तवीर्यं’ कहनेका तात्पर्य है कि आप तेज, बल आदिसे भी अनन्त हैं; और ‘अमितविक्रम’ कहनेका तात्पर्य है कि आपके पराक्रमयुक्त संरक्षण आदि कार्य भी असीम हैं। इस

तरह आपकी शक्ति भी अनन्त है और पराक्रम भी अनन्त है।

‘सर्वं समाज्जोषि ततोऽसि सर्वः’—आपने सबको समावृत्त कर रखा है अर्थात् सम्पूर्ण संसार आपके अन्तर्गत है। संसारका कोई भी अंश ऐसा नहीं है, जो कि आपके अन्तर्गत न हो।

अर्जुन एक बड़ी अलौकिक, विलक्षण बात देख रहे हैं कि भगवान् अनन्त सृष्टियोंमें परिपूर्ण, व्याप्त हो रहे हैं, और अनन्त सृष्टियाँ भगवान्के किसी अंशमें हैं।

परिशिष्ट भाव—भगवान्के दिव्य विराटरूपको देखकर अर्जुनने कहा कि आप अपने तेजसे संसारको संतप्त कर रहे हैं—‘स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्’ (११।१९) तो संतप्त करनेवाले और संतप्त होनेवाले—दोनों एक ही विराटरूपके अंग हैं। भगवान्के उग्ररूपको देखकर तीनों लोक व्यथित (व्याकुल) हो रहे हैं—‘लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्’ (११।२०) तो व्यथित होनेवाली त्रिलोकी भी भगवान्के विराटरूपका ही अंग है। भगवान्को देखकर देवता भयभीत होकर उनका गुणगान कर रहे हैं—‘केचिद्धीताः प्रांजलयो गृणन्ति’ (११।२१) और राक्षसलोक भयभीत होकर दसों दिशाओंमें भाग रहे हैं—‘रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति’ (११।३६) तो भयभीत होनेवाले देवता और राक्षस भी भगवान्के विराटरूपके ही अंग हैं। कारण कि ये देवता, राक्षस आदि कुरुक्षेत्रमें नहीं थे, प्रत्युत भगवान्के विराटरूपमें ही अर्जुनको दीख रहे थे।

ब्रह्मा, विष्णु, शंकर, रुद्र, आदित्य, वसु, साध्यगण, विश्वेदेव, अश्विनीकुमार, मरुद्गण, पितृगण, सर्प, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, असुर, ऋषि-महर्षि, सिद्धगण, वायु, यमराज, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, सूर्य आदि और इनके सिवाय भीष्म, द्रोण, कर्ण, जयद्रथ आदि समस्त राजालोग—ये सब-के-सब दिव्य विराटरूपके ही अंग हैं। इतना ही नहीं, अर्जुन, संजय, धृतराष्ट्र तथा कौरव और पाण्डवसेना भी उसी विराटरूपके ही अंग हैं—‘सर्व समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः’।

तात्पर्य है कि जड़-चेतन, स्थावर-जंगमरूपसे जो कुछ देखने, सुनने, सोचनेमें आ रहा है, वह सब अविनाशी भगवान् ही हैं। इसका अनुभव करनेके लिये साधकको दृढ़तासे यह मान लेना चाहिये कि चाहे मेरी समझमें आये या न आये, अनुभवमें आये या न आये, स्वीकार हो या न हो, पर बात यही सच्ची है। जैसे जलके एक कणमें और समुद्रमें एक ही जल-तत्त्व परिपूर्ण है, ऐसे ही छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी प्रत्येक वस्तुमें एक ही परमात्मतत्त्व परिपूर्ण है—ऐसा मानकर वह हर समय मन-ही-मन सबको नमस्कार करता रहे। उसको वृक्ष, नदी, पहाड़, पत्थर, दीवार आदि जो कुछ भी दीखे, उसमें अपने इष्ट भगवान्को देखकर वह प्रार्थना करे कि ‘हे नाथ! मुझे अपना प्रेम प्रदान करो, हे प्रभो! आपको मेरा नमस्कार हो’। ऐसा करनेसे उसको सब जगह भगवान् दीखने लग जायँगे; क्योंकि वास्तवमें सब कुछ भगवान् ही हैं।

सम्बन्ध—अब आगेके दो श्लोकोंमें अर्जुन भगवान्से प्रार्थना करते हुए क्षमा माँगते हैं।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति ।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥ ४१ ॥
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु ।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥ ४२ ॥

तव = आपकी
इदम् = इस
महिमानम् = महिमाको
अजानता = न जानते हुए
सखा = ‘मेरे सखा हैं’
इति = ऐसा
मत्वा = मानकर
मया = मैंने
प्रमादात् = प्रमादसे
वा = अथवा
प्रणयेन = प्रेमसे
अपि = भी
प्रसभम् = हठपूर्वक (बिना सोचे-समझे)
हे, कृष्ण = ‘हे कृष्ण!’

हे, यादव = हे यादव !
हे, सखे = हे सखे !
इति = इस प्रकार
यत् = जो कुछ
उक्तम् = कहा है;
च = और
अच्युत = हे अच्युत !
अवहासार्थम् = हँसी-दिल्लगीमें,
विहारशय्यासन-
भोजनेषु = चलते-फिरते,
सोते-जागते,
उठते-बैठते, खाते-
पीते समय
एकः = अकेले
अथवा = अथवा

तत्समक्षम् = उन (सखाओं,
कुटुम्बियों आदि)के
सामने
यत् = (मेरे द्वारा आपका)
जो कुछ
असत्कृतः = तिरस्कार
(अपमान) किया गया
असि = है;
अप्रमेयम् = हे अप्रमेयस्वरूप !
तत् = वह सब
त्वाम् = आपसे
अहम् = मैं
क्षामये = क्षमा करवाता हूँ
अर्थात् आपसे क्षमा
माँगता हूँ ।

व्याख्या—[जब अर्जुन विराट्भगवान्के अत्युग्ररूपको देखकर भयभीत होते हैं, तब वे भगवान्के कृष्णरूपको भूल जाते हैं और पृष्ठ बैठते हैं कि उग्ररूपवाले आप कौन हैं? परन्तु जब उनको भगवान् श्रीकृष्णकी स्मृति आती है कि वे ये ही हैं, तब भगवान्के प्रभाव आदिको देखकर

उनको सखाभावसे किये हुए पुराने व्यवहारकी याद आ जाती है और उसके लिये वे भगवान्से क्षमा माँगते हैं।]

‘सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति’—जो बड़े आदमी होते हैं, श्रेष्ठ पुरुष होते हैं, उनको साक्षात् नामसे नहीं पुकारा जाता। उनके लिये तो

‘आप’, ‘महाराज’ आदि शब्दोंका प्रयोग होता है। परन्तु मैंने आपको कभी ‘हे कृष्ण’ कह दिया, कभी ‘हे यादव’ कह दिया और कभी ‘हे सखे’ कह दिया। इसका कारण क्या था? ‘अज्ञानता महिमानं तवेदम्’^१ इसका कारण यह था कि मैंने आपकी ऐसी महिमाको और स्वरूपको जाना नहीं कि आप ऐसे विलक्षण हैं। आपके किसी एक अंशमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड विराजमान हैं—ऐसा मैं पहले नहीं जानता था। आपके प्रभावकी तरफ मेरी दृष्टि ही नहीं गयी। मैंने कभी सोचा-समझा ही नहीं कि आप कौन हैं और कैसे हैं।

यद्यपि अर्जुन भगवान्के स्वरूपको, महिमाको, प्रभावको पहले भी जानते थे, तभी तो उन्होंने एक अक्षौहिणी सेनाको छोड़कर निःशस्त्र भगवान्को स्वीकार किया था; तथापि भगवान्के शरीरके किसी एक अंशमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड यथावकाश स्थित हैं—ऐसे प्रभावको, स्वरूपको, महिमाको अर्जुनने पहले नहीं जाना था। जब भगवान्ने कृपा करके विश्वरूप दिखाया, तब उसको देखकर ही अर्जुनकी दृष्टि भगवान्के प्रभावकी तरफ गयी और वे भगवान्को कुछ जानने लगे। उनका यह विचित्र भाव हो गया कि ‘कहाँ तो मैं और कहाँ ये देवोंके देव! परन्तु मैंने प्रमादसे अथवा प्रेमसे हठपूर्वक, बिना सोचे-समझे, जो मनमें आया, वह कह दिया—‘मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥’ बोलनेमें मैंने बिलकुल ही सावधानी नहीं बरती!’

वास्तवमें भगवान्की महिमाको सर्वथा कोई जान ही नहीं सकता; क्योंकि भगवान्की महिमा अनन्त है। अगर वह सर्वथा जाननेमें आ जायगी तो उसकी अनन्तता नहीं रहेगी, वह सीमित हो जायगी। जब भगवान्की सामर्थ्यसे उत्पन्न होनेवाली विभूतियोंका भी अन्त नहीं है, तब भगवान् और उनकी महिमाका अन्त आ ही कैसे सकता है? अर्थात् आ ही नहीं सकता।

‘यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासन-

भोजनेषु’—मैंने आपको बराबरीका साधारण मित्र समझकर हँसी-दिल्लगी करते समय, रास्तेमें चलते-फिरते समय, शय्यापर सोते-जागते समय, आसनपर उठते-बैठते समय, भोजन करते समय जो कुछ अपमानके शब्द कहे, आपका असत्कार किया अथवा हे अच्युत! आप अकेले थे, उस समय या उन सखाओं, कुटुम्बीजनों, सभ्य व्यक्तियों आदिके सामने मैंने आपका जो कुछ तिरस्कार किया है, वह सब मैं आपसे क्षमा करवाता हूँ—‘एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्।’

अर्जुन और भगवान्की मित्रताका ऐसा वर्णन आता है कि जैसे दो मित्र आपसमें खेलते हैं, ऐसे ही अर्जुन भगवान्के साथ खेलते थे। कभी स्नान करते तो अर्जुन हाथोंसे भगवान्के ऊपर जल फेंकते और भगवान् अर्जुनके ऊपर। कभी अर्जुन भगवान्के पीछे दौड़ते तो कभी भगवान् अर्जुनके पीछे दौड़ते। कभी दोनों आपसमें हँसते-हँसाते। कभी दोनों परस्पर अपनी-अपनी विशेष कलाएँ दिखाते। कभी भगवान् सो जाते तो अर्जुन कहते—‘तुम इतने फैलकर सो गये हो, क्या कोई दूसरा नहीं सोयेगा? तुम अकेले ही हो क्या?’ कभी भगवान् आसनपर बैठ जाते तो अर्जुन कहते—‘आसनपर तुम अकेले ही बैठोगे क्या? और किसीको बैठने दोगे कि नहीं? अकेले ही आधिपत्य जमा लिया! जरा एक तरफ तो खिसक जाओ।’ इस प्रकार अर्जुन भगवान्के साथ बहुत ही घनिष्ठताका व्यवहार करते थे^२। अब अर्जुन उन बातोंको याद करके कहते हैं कि ‘हे भगवन्! मैंने आपके न जाने कितने-कितने तिरस्कार किये हैं। मेरेको तो सब याद भी नहीं हैं। यद्यपि आपने मेरे तिरस्कारोंकी तरफ खयाल नहीं किया, तथापि मेरे द्वारा आपके बहुत-से तिरस्कार हुए हैं, इसलिये मैं अप्रमेयस्वरूप आपसे सब तिरस्कार क्षमा करवाता हूँ।’ भगवान्को ‘अप्रमेय’ कहनेका तात्पर्य है कि दिव्यदृष्टि होनेपर भी आप दिव्यदृष्टिके अन्तर्गत नहीं आते हैं।

१-‘महिमानं तव इदम्’—इसमें आया ‘इदम्’ पद ‘महिमानम्’ का विशेषण नहीं है; क्योंकि ‘महिमानम्’ पद पुल्लिङ्गमें आया है और ‘इदम्’ पद नपुंसकलिङ्गमें आया है। अतः यहाँ ‘इदम्’ का अर्थ ‘स्वरूप’ लिया गया है। इस दृष्टिसे ‘महिमानं तव इदम्’ का अर्थ हुआ—आपकी महिमा और स्वरूप।

२-शय्यासनाटनविकथनभोजनादिष्वैक्याद् वयस्य ऋतवानिति विप्रलब्धः।

सख्युः सखेव पितृवत्तनयस्य सर्वं सेहे महान् महितया कुमतेरघं मे ॥ (श्रीमद्भा० १। १५। १९)

अर्जुन कहते हैं—‘भगवान् श्रीकृष्णके साथ सोने, बैठने, घूमने, बातचीत करने और भोजनादि करनेमें मेरा-उनका ऐसा सहज भाव हो गया था कि मैं कभी-कभी ‘हे सखे! तुम बड़े सच बोलनेवाले हो!’ ऐसा कहकर आक्षेप भी करता था। परन्तु वे महात्मा प्रभु अपने बड़प्पनके अनुसार मुझ कुबुद्धिके उन समस्त तिरस्कारोंको वैसे ही सहा करते थे, जैसे सखा अपने सखाके या पिता अपने पुत्रके तिरस्कारको सहा करता है।’

परिशिष्ट भाव—अर्जुनका भगवान्के साथ सखाभाव था, पर भगवान्के ऐश्वर्यको देखनेसे वे अपना सखाभाव भूल जाते हैं और भगवान्को देखकर आश्चर्य करते हैं, भयभीत होते हैं। उनके मनमें यह सम्भावना ही नहीं थी कि भगवान् ऐसे हैं!

सम्बन्ध—अब आगेके दो श्लोकोंमें अर्जुन भगवान्की महत्ता और प्रभावका वर्णन करके पुनः क्षमा करनेके लिये प्रार्थना करते हैं।

**पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥ ४३ ॥**

त्वम्	= आप (ही)	च	= और	त्वत्समः	= आपके समान
अस्य	= इस	गरीयान्	= (आप ही)	अपि	= भी
चराचरस्य	= चराचर		गुरुओंके	अन्यः	= दूसरा कोई
लोकस्य	= संसारके	गुरुः	= महान् गुरु हैं।	न	= नहीं
पिता	= पिता	अप्रतिम-		अस्ति	= है, (फिर आपसे)
असि	= हैं,	प्रभाव	= हे अनन्त	अभ्यधिकः	= अधिक तो
पूज्यः	= (आप ही)		प्रभावशाली भगवन्!	कुतः	= हो ही कैसे
	पूजनीय हैं	लोकत्रये	= इस त्रिलोकीमें		सकता है!

व्याख्या—‘पितासि लोकस्य चराचरस्य’—अनन्त ब्रह्माण्डोंमें मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जितने जंगम प्राणी हैं, और वृक्ष, लता आदि जितने स्थावर प्राणी हैं, उन सबको उत्पन्न करनेवाले और उनका पालन करनेवाले पिता भी आप हैं, उनके पूजनीय भी आप हैं तथा उनको शिक्षा देनेवाले महान् गुरु भी आप ही हैं—‘त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।’

‘गुरुर्गरीयान्’ का तात्पर्य है कि मनुष्यमात्रको व्यवहार और परमार्थमें जहाँ-कहीं भी गुरुजनोंसे शिक्षा मिलती है,

उन शिक्षा देनेवाले गुरुओंके भी महान् गुरु आप ही हैं अर्थात् मात्र शिक्षाका, मात्र ज्ञानका उद्गम-स्थान आप ही हैं।

‘न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रये-
ऽप्यप्रतिमप्रभाव’—इस त्रिलोकीमें जब आपके समान भी कोई नहीं है, कोई होगा नहीं और कोई हो सकता ही नहीं, तब आपसे अधिक विलक्षण कोई हो ही कैसे सकता है? इसलिये आपका प्रभाव अतुलनीय है, उसकी तुलना किसीसे भी नहीं की जा सकती।

परिशिष्ट भाव—अर्जुन लौकिक दृष्टिसे, संसारकी सत्ताको लेकर कहते हैं कि इस त्रिलोकीमें आपके समान भी दूसरा कोई नहीं है, फिर अधिक कैसे हो सकता है! परन्तु वास्तविक दृष्टिसे जब भगवान्के सिवाय और कुछ है ही नहीं, तो फिर उसमें समान और अधिक कहना बनता ही नहीं।

**तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥ ४४ ॥**

तस्मात्	= इसलिये	कायम्	= शरीरसे	इव	= जैसे
ईड्यम्	= स्तुति	प्रणिधाय	= लम्बा पड़कर	पुत्रस्य	= पुत्रके,
	करनेयोग्य	प्रणम्य	= प्रणाम करके	सखा	= मित्र
त्वाम्	= आप	प्रसादये	= प्रसन्न करना	इव	= जैसे
ईशम्	= ईश्वरको		चाहता हूँ।	सख्युः	= मित्रके (और)
अहम्	= मैं	पिता	= पिता	प्रियः	= पति (जैसे)

प्रियाय	= पत्नीके (अपमान सह लेता है),	(आप मेरे द्वारा किया गया अपमान)	सोढुम्	= सहनेमें अर्थात् क्षमा करनेमें
देव	= (ऐसे ही) हे देव!		अर्हसि	= समर्थ हैं।

व्याख्या—‘तस्मात्प्रणाम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्’—आप अनन्त ब्रह्माण्डोंके ईश्वर हैं। इसलिये सबके द्वारा स्तुति करनेयोग्य आप ही हैं। आपके गुण, प्रभाव, महत्त्व आदि अनन्त हैं; अतः ऋषि, महर्षि, देवता, महापुरुष आपकी नित्य-निरन्तर स्तुति करते रहें, तो भी पार नहीं पा सकते। ऐसे स्तुति करनेयोग्य आपकी मैं क्या स्तुति कर सकता हूँ? मेरेमें आपकी स्तुति करनेका बल नहीं है, सामर्थ्य नहीं है। इसलिये मैं तो केवल आपके चरणोंमें लम्बा पड़कर दण्डवत् प्रणाम ही कर सकता हूँ और इसीसे आपको प्रसन्न करना चाहता हूँ।

‘पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्’—किसीका अपमान होता है तो उसमें मुख्य तीन कारण होते हैं—(१) प्रमाद-(असावधानी-) से, (२) हँसी-दिल्लगी, विनोदमें खयाल न रहनेसे और (३) अपनेपनकी घनिष्ठता होनेपर अपने साथ रहनेवालेका महत्त्व न जाननेसे। जैसे, गोदीमें बैठा हुआ छोटा बच्चा अज्ञानवश पिताकी दाढ़ी-मूँछ खींचता है, मुँहपर थप्पड़ लगाता है, कभी कहीं लात मार देता है तो बच्चेकी ऐसी चेष्टा देखकर पिता राजी ही होते हैं, प्रसन्न ही होते हैं। वे अपनेमें यह भाव लाते ही नहीं कि पुत्र मेरा अपमान कर रहा है। मित्र मित्रके साथ चलते-फिरते, उठते-बैठते आदि समय चाहे जैसा व्यवहार करता है, चाहे जैसा बोल देता है, जैसे—‘तुम बड़े सत्य बोलते हो जी! तुम तो बड़े सत्यप्रतिज्ञ हो! अब तो तुम बड़े आदमी हो गये हो! तुम तो खूब अभिमान करने लग गये हो! आज मानो तुम राजा ही बन गये हो! आदि, पर उसका मित्र उसकी इन बातोंका खयाल नहीं करता। वह तो यही समझता है कि हम बराबरीके मित्र हैं, ऐसी हँसी-दिल्लगी तो होती ही रहती है। पत्नीके द्वारा आपसके प्रेमके कारण उठने-बैठने, बातचीत करने आदिमें पतिकी जो कुछ अवहेलना होती है, उसे पति सह लेता है। जैसे, पति नीचे बैठा है तो वह ऊँचे आसनपर बैठ जाती है, कभी किसी बातको लेकर

अवहेलना भी कर देती है, पर पति उसे स्वाभाविक ही सह लेता है। अर्जुन कहते हैं कि जैसे पिता पुत्रके, मित्र मित्रके और पति पत्नीके अपमानको सह लेता है अर्थात् क्षमा कर देता है, ऐसे ही हे भगवन्! आप मेरे अपमानको सहनेमें समर्थ हैं अर्थात् इसके लिये मैं आपसे क्षमा माँगता हूँ।

इकतालीसवें-बयालीसवें श्लोकोंमें अर्जुनने तीन बातें कही थीं—‘प्रमादात्’ (प्रमादसे), ‘अवहासार्थम्’ (हँसी-दिल्लगीसे) और ‘प्रणयेन’ (प्रेमसे)। उन्हीं तीन बातोंका संकेत अर्जुनने यहाँ तीन दृष्टान्त देकर किया है अर्थात् प्रमादके लिये पिता-पुत्रका, हँसी-दिल्लगीके लिये मित्र-मित्रका और प्रेमके लिये पति-पत्नीका दृष्टान्त दिया है।

ग्यारहवें अध्यायमें ग्यारह रसोंका वर्णन

ग्यारहवें अध्यायमें ग्यारह रसोंका वर्णन इस प्रकार हुआ है—देवरूपका वर्णन होनेसे ‘शान्तरस’ (पन्द्रहवेंसे अठारहवें श्लोकतक); स्वर्गसे पृथ्वीतक और दसों दिशाओंमें व्याप्त विराटरूपका वर्णन होनेसे ‘अद्भुतरस’ (बीसवाँ श्लोक); अपनी जिह्वासे सबका ग्रसन कर रहे हैं और सबका संहार करनेके लिये कालरूपसे प्रवृत्त हुए हैं—ऐसा रूप धारण किये होनेसे ‘रौद्ररस’ (तीसवाँ और बत्तीसवाँ श्लोक); भयंकर विकराल मुख और दाढ़ीवाला रूप होनेसे ‘बीभत्सरस’ (तेईसवेंसे पचीसवें श्लोकतक); तुम युद्धके लिये खड़े हो जाओ—इस रूपमें ‘वीररस’ (तैंतीसवाँ श्लोक); लम्बे पड़कर दण्डवत्-प्रणाम आदि करनेसे ‘दास्यरस’ (चौवालीसवें श्लोकका पूर्वार्ध); मुख्य-मुख्य योद्धाओंको तथा अन्य राजालोगोंको भगवान्के मुखमें जाते हुए देखनेसे ‘करुणरस’ (अट्ठाईसवाँ-उनतीसवाँ श्लोक); दृष्टान्तसे मित्र मित्रके, पिता पुत्रके और पति पत्नीके अपमानको सह लेता है—इस रूपमें क्रमशः ‘सख्यरस’, ‘वात्सल्यरस’ और ‘माधुर्यरस’का वर्णन हुआ है (चौवालीसवें श्लोकका उत्तरार्ध) और हँसी आदिकी स्मृतिरूपसे ‘हास्यरस’का वर्णन हुआ है (बयालीसवें श्लोकका पूर्वार्ध)।

सम्बन्ध—अब आगेके दो श्लोकोंमें अर्जुन चतुर्भुजरूप दिखानेके लिये प्रार्थना करते हैं।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।

तदेव मे दर्शय देवरूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ४५ ॥

अदृष्टपूर्वम्	= जिसको पहले कभी नहीं देखा, उस रूपको	भयेन	= भयसे	देवरूपम्	= देवरूप (शान्त विष्णुरूप)-
दृष्ट्वा	= देखकर (मैं)	मे	= मेरा	दर्शय	= दिखाइये।
हृषितः	= हर्षित	मनः	= मन	देवेश	= हे देवेश!
अस्मि	= हो रहा हूँ	प्रव्यथितम्	= अत्यन्त व्यथित हो रहा है। (अतः आप)	जगन्निवास	= हे जगन्निवास!
च	= और (साथ-ही-साथ)	मे	= मुझे (अपने)	प्रसीद	= (आप) प्रसन्न होइये।
		तत्, एव	= उसी		

व्याख्या—[जैसे विराटरूप दिखानेके लिये मैंने भगवान्से प्रार्थना की तो भगवान्ने मुझे विराटरूप दिखा दिया, ऐसे ही देवरूप दिखानेके लिये प्रार्थना करनेपर भगवान् देवरूप दिखायेंगे ही—ऐसी आशा होनेसे अर्जुन भगवान्से देवरूप दिखानेके लिये प्रार्थना करते हैं।]

‘अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे’—आपका ऐसा अलौकिक आश्चर्यमय विशाल-रूप मैंने पहले कभी नहीं देखा। आपका ऐसा भी रूप है—ऐसी मेरे मनमें सम्भावना भी नहीं थी। ऐसा रूप देखनेकी मेरेमें कोई योग्यता भी नहीं थी। यह तो केवल आपने अपनी तरफसे ही कृपा करके दिखाया है। इससे मैं अपने-आपको बड़ा सौभाग्यशाली मानकर हर्षित हो रहा हूँ, आपकी कृपाको देखकर गद्गद हो रहा हूँ। परन्तु साथ-ही-साथ आपके स्वरूपकी उग्रताको देखकर मेरा मन भयके कारण अत्यन्त व्यथित हो रहा है, व्याकुल हो रहा है, घबरा रहा है।

‘तदेव मे दर्शय देवरूपम्’—‘तत्’ (वह) शब्द परोक्षवाची है; अतः ‘तदेव’ (तत् एव) कहनेसे ऐसा मालूम देता है कि अर्जुनने देवरूप (विष्णुरूप) पहले कभी देखा है, जो अभी सामने नहीं है। विश्वरूप देखनेपर जहाँ अर्जुनकी पहले दृष्टि पड़ी, वहाँ उन्होंने कमलासनपर विराजमान ब्रह्माजीको देखा—‘**पश्यामि देवांस्तव देव देहे** **ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थम्**’ (११।१५)। इससे सिद्ध होता है कि वह कमल जिसकी नाभिसे निकला है, उस शेषशायी चतुर्भुज विष्णुरूपको भी अर्जुनने देखा है। फिर सत्रहवें श्लोकमें अर्जुनने कहा है कि मैं आपको किरीट, गदा, चक्र (और ‘च’ पदसे शंख और पद्म) धारण किये हुए देख रहा हूँ—‘**किरीटिनं गदिनं चक्रिणं**

च’—इन दोनों बातोंसे यही सिद्ध होता है कि अर्जुनने विश्वरूपके अन्तर्गत भगवान्के जिस विष्णुरूपको देखा था, उसीके लिये अर्जुन यहाँ ‘वही देवरूप मेरेको दिखाइये’ ऐसा कह रहे हैं।*

‘देवरूपम्’ कहनेका तात्पर्य है कि मैंने विराटरूपमें आपके विष्णुरूपको भी देखा था, पर अब आप मेरेको केवल विष्णुरूप ही दिखाइये। दूसरी बात, पंद्रहवें श्लोकमें भी अर्जुनने भगवान्के लिये ‘देव’ कहा है—‘**पश्यामि देवांस्तव देव देहे**’ और यहाँ भी देवरूप दिखानेके लिये कहते हैं इसका तात्पर्य है कि विराटरूप भी नहीं और मनुष्यरूप भी नहीं, केवल देवरूप दिखाइये। आगेके (छियालीसवें) श्लोकमें भी ‘**तेनैव**’ पदसे विराटरूप और मनुष्यरूपका निषेध करके भगवान्से चतुर्भुज विष्णुरूप बन जानेके लिये प्रार्थना करते हैं।

‘प्रसीद देवेश जगन्निवास’—यहाँ ‘जगन्निवास’ सम्बोधन विश्वरूपका और ‘देवेश’ सम्बोधन चतुर्भुजरूपका संकेत कर रहा है। अर्जुन ये दो सम्बोधन देकर मानो यह कह रहे हैं कि सम्पूर्ण संसारका निवास आपमें है—ऐसा विश्वरूप तो मैंने देख लिया है और देख ही रहा हूँ। अब आप ‘देवेश’—देवताओंके मालिक विष्णुरूपसे हो जाइये।

विशेष बात

भगवान्का विश्वरूप दिव्य है, अविनाशी है, अक्षय है। इस विश्वरूपमें अनन्त ब्रह्माण्ड हैं तथा उन ब्रह्माण्डोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेवाले ब्रह्मा, विष्णु और शिव भी अनन्त हैं। इस नित्य विश्वरूपसे अनन्त विश्व (ब्रह्माण्ड) उत्पन्न हो-होकर उसमें लीन होते रहते हैं, पर यह विश्वरूप अव्यय होनेसे ज्यों-का-त्यों ही रहता है। यह

* आगे उनचासवें श्लोकमें ‘पुनः’ तथा ‘तदेव’ पदसे भगवान्ने और पचासवें श्लोकमें ‘भूयः’ पदसे संजयने भी उसी (विश्वरूपके अन्तर्गत देखे गये) चतुर्भुजरूपको दिखानेकी बात कही है।

विश्वरूप इतना दिव्य, अलौकिक है कि हजारों भौतिक सूर्योका प्रकाश भी इसके प्रकाशका उपमेय नहीं हो सकता (इसी अध्यायका बारहवाँ श्लोक)। इसलिये इस विश्वरूपको 'दिव्यचक्षु' के बिना कोई भी देख नहीं सकता। 'ज्ञानचक्षु' के द्वारा संसारके मूलमें सत्तारूपसे जो परमात्मतत्त्व है, उसका बोध होता है और 'भावचक्षु'से संसार भगवत्स्वरूप दीखता है, पर इन दोनों ही चक्षुओंसे विश्वरूपका दर्शन नहीं होता। 'चर्मचक्षु'से न तो तत्त्वका बोध होता है, न संसार भगवत्स्वरूप दीखता है और न विश्वरूपका दर्शन ही होता है; क्योंकि चर्मचक्षु प्रकृतिका कार्य है। इसलिये चर्मचक्षुसे प्रकृतिके स्थूल कार्यको ही देखा जा सकता है।

वास्तवमें भगवान्के द्विभुज, चतुर्भुज, सहस्रभुज आदि जितने भी रूप हैं, वे सब-के-सब दिव्य और अव्यय हैं। इसी तरह भगवान्के सगुण-निराकार, निर्गुण-निराकार, सगुण-साकार आदि जितने रूप हैं, वे सब-के-सब भी दिव्य और अव्यय हैं।

माधुर्य-लीलामें तो भगवान् द्विभुजरूप ही रहते हैं; परन्तु जहाँ अपना कुछ ऐश्वर्य दिखलानेकी आवश्यकता होती है, वहाँ भगवान् पात्र, अधिकार, भाव आदिके भेदसे अपना विराटरूप भी दिखा देते हैं। जैसे, भगवान्ने

अर्जुनको मनुष्यरूपसे प्रकट हुए अपने द्विभुजरूप-शरीरके किसी अंशमें विराटरूप दिखाया है।

भगवान्में अनन्त-असीम ऐश्वर्य, माधुर्य, सौन्दर्य, औदार्य आदि दिव्य गुण हैं। उन अनन्त दिव्य गुणोंके सहित भगवान्का विश्वरूप है। भगवान् जिस-किसीको ऐसा विश्वरूप दिखाते हैं, उसे पहले दिव्यदृष्टि देते हैं। दिव्यदृष्टि देनेपर भी वह जैसा पात्र होता है, जैसी योग्यता और रुचिवाला होता है, उसीके अनुसार भगवान् उसको अपने विश्वरूपके स्तरोंका दर्शन कराते हैं। यहाँ ग्यारहवें अध्यायके पंद्रहवेंसे तीसवें श्लोकतक भगवान् विश्वरूपसे अनेक स्तरोंसे प्रकट होते गये, जिसमें पहले देवरूपकी (पन्द्रहवेंसे अठारहवें श्लोकतक), फिर उग्ररूपकी (उन्नीसवेंसे बाईसवें श्लोकतक) और उसके बाद अत्युग्ररूपकी (तेईसवेंसे तीसवें श्लोकतक) प्रधानता रही। अत्युग्ररूपको देखकर जब अर्जुन भयभीत हो गये, तब भगवान्ने अपने दिव्यातिदिव्य विश्वरूपके स्तरोंको दिखाना बंद कर दिया अर्थात् अर्जुनके भयभीत होनेके कारण भगवान्ने अगले रूपोंके दर्शन नहीं कराये। तात्पर्य है कि भगवान्ने दिव्य विराटरूपके अनन्त स्तरोंमेंसे उतने ही स्तर अर्जुनको दिखाये, जितने स्तरोंको दिखानेकी आवश्यकता थी और जितने स्तर देखनेकी अर्जुनमें योग्यता थी।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव ।

तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥ ४६ ॥

अहम्	= मैं	चक्रहस्तम्	= हाथमें चक्र लिये हुए अर्थात् चतुर्भुज-रूपसे	विश्वमूर्ते	= हे विश्वमूर्ते! (आप)
त्वाम्	= आपको	द्रष्टुम्	= देखना	तेन, एव*	= उसी
तथा	= वैसे	इच्छामि	= चाहता हूँ। (इसलिये)	चतुर्भुजेन, रूपेण	= चतुर्भुजरूपसे (शंख-चक्र-गदा-पद्मसहित)
एव	= ही	सहस्रबाहो	= हे सहस्रबाहो!	भव	= हो जाइये।
किरीटिनम्	= किरीट-(मुकुट) धारी,				
गदिनम्	= गदाधारी (और)				

* इदमस्तु सन्निकृष्टे समीपतरवर्ति चैतदो रूपम्। अदसस्तु विप्रकृष्टे तदिति परोक्षे विजानीयात् ॥

— इस उक्तिके अनुसार 'इदम्' शब्द समीपका, 'एतत्' शब्द अत्यन्त समीपका, 'अदस्' शब्द दूरका और 'तत्' शब्द परोक्षका वाचक है। विश्वरूपमें इन सबका प्रयोग हुआ है; जैसे— विश्वरूप नजदीक होनेसे अर्जुनने अठारहवें-उन्नीसवें आदि श्लोकोंमें 'इदम्' शब्दका; भीष्म, द्रोण आदि विराटरूप भगवान्के अत्यन्त नजदीक होनेसे अर्थात् विराटरूपका ही अंग होनेसे भगवान्ने तैतीसवें श्लोकमें 'एतत्' शब्दका; भगवान्की दी हुई दिव्यदृष्टिसे विराटरूप बहुत दूरतक दीखता था और उसमें देवता आदि भी दूरतक दीखते थे, इसलिये अर्जुनने इक्कीसवें, छब्बीसवें और अट्ठाईसवें श्लोकमें 'अदस्' शब्दका; और विराटरूपके पहले स्तरमें देखा हुआ चतुर्भुज विष्णुरूप (विराटरूपके स्तर बदलनेके कारण) नेत्रोंके सामने न होनेसे अर्थात् परोक्ष होनेसे अर्जुनने 'तत्' शब्दका प्रयोग किया है।

व्याख्या—‘किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव’—जिसमें आपने सिरपर दिव्य मुकुट तथा हाथोंमें गदा और चक्र धारण कर रखे हैं, उसी रूपको मैं देखना चाहता हूँ।

‘तथैव’ कहनेका तात्पर्य है कि मेरे द्वारा ‘द्रष्टुमिच्छामि ते रूपम्’ (११। ३) ऐसी इच्छा प्रकट करनेसे आपने विराटरूप दिखाया। अब मैं अपनी इच्छा बाकी क्यों रखूँ? अतः मैंने आपके विराटरूपमें जैसा सौम्य चतुर्भुजरूप देखा है, वैसा-का-वैसा ही रूप मैं अब देखना चाहता हूँ—‘इच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव’।

‘तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते’—पंद्रहवें और सत्रहवें श्लोकमें जिस विराटरूपमें चतुर्भुज विष्णुरूपको देखा था, उस विराटरूपका निषेध करनेके लिये अर्जुन यहाँ ‘एव’ पद देते हैं। तात्पर्य यह है कि ‘तेन चतुर्भुजेन रूपेण’—ये पद तो चतुर्भुजरूप दिखानेके

परिशिष्ट भाव—यद्यपि मूल श्लोकमें भगवान्को गदा और चक्र धारण किये हुए बताया गया है, तथापि ‘चतुर्भुजेन’ पद आनेसे यहाँ चारों भुजाओंमें गदा और चक्रके साथ-साथ शंख और पद्म भी समझ लेने चाहिये।

सम्बन्ध—इकतीसवें श्लोकमें अर्जुनने पूछा कि उग्ररूपवाले आप कौन हैं, तो भगवान्ने उत्तर दिया कि मैं काल हूँ और सबका संहार करनेके लिये प्रवृत्त हुआ हूँ। ऐसा सुनकर तथा अत्यन्त विकरालरूपको देखकर अर्जुनको ऐसा लगा कि भगवान् बड़े क्रोधमें हैं। इसलिये अर्जुन भगवान्से बार-बार प्रसन्न होनेके लिये प्रार्थना करते हैं। अर्जुनकी इस भावनाको दूर करनेके लिये भगवान् कहते हैं—

श्रीभगवानुवाच

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥ ४७ ॥

श्रीभगवान् बोले—

अर्जुन	= हे अर्जुन!	परम्	= अत्यन्त श्रेष्ठ,	तव	= तुझे
मया	= मैंने	तेजोमयम्	= तेजस्वरूप,	दर्शितम्	= दिखाया है,
प्रसन्नेन	= प्रसन्न होकर	आद्यम्	= सबका आदि (और)	यत्	= जिसको
आत्मयोगात्	= अपनी सामर्थ्यसे	अनन्तम्	= अनन्त	त्वदन्येन	= तुम्हारे सिवाय
मे	= मेरा	विश्वम्	= विश्व-	न, दृष्टपूर्वम्	= पहले किसीने नहीं
इदम्	= यह	रूपम्	= रूप		देखा है।

व्याख्या—‘मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं दर्शितम्’—हे अर्जुन! तू बार-बार यह कह रहा है कि आप प्रसन्न हो जाओ (पचीसवाँ, इकतीसवाँ और पैंतालीसवाँ श्लोक), तो प्यारे भैया! मैंने जो यह विराटरूप तुझे दिखाया है, उसमें विकरालरूपको देखकर तू भयभीत हो गया है, पर यह विकरालरूप मैंने क्रोधमें आकर या तुझे भयभीत करनेके लिये नहीं दिखाया है। मैंने तो अपनी प्रसन्नतासे ही यह

लिये आये हैं और ‘एव’ पद ‘विराटरूपके साथ नहीं’—ऐसा निषेध करनेके लिये आया है तथा ‘भव’ पद ‘हो जाइये’—ऐसी प्रार्थनाके लिये आया है।

पूर्वश्लोकमें ‘तदेव’ तथा यहाँ ‘तथैव’ और ‘तेनैव’—तीनों पदोंका तात्पर्य है कि अर्जुन विश्वरूपसे बहुत डर गये थे। इसलिये तीन बार ‘एव’ शब्दका प्रयोग करके भगवान्से कहते हैं कि मैं आपका केवल विष्णुरूप ही देखना चाहता हूँ; विष्णुरूपके साथ विश्वरूप नहीं। अतः आप केवल चतुर्भुजरूपसे प्रकट हो जाइये।

‘सहस्रबाहो’ सम्बोधनका यह भाव मालूम देता है कि हे हजारों हाथोंवाले भगवन्! आप चार हाथोंवाले हो जाइये; और ‘विश्वमूर्ते’ सम्बोधनका यह भाव मालूम देता है कि हे अनेक रूपोंवाले भगवन्! आप एक रूपवाले हो जाइये। तात्पर्य है कि आप विश्वरूपका उपसंहार करके चतुर्भुज विष्णुरूपसे हो जाइये।

परिशिष्ट भाव—यद्यपि मूल श्लोकमें भगवान्को गदा और चक्र धारण किये हुए बताया गया है, तथापि ‘चतुर्भुजेन’ पद आनेसे यहाँ चारों भुजाओंमें गदा और चक्रके साथ-साथ शंख और पद्म भी समझ लेने चाहिये।

विराटरूप तुझे दिखाया है। इसमें तेरी कोई योग्यता, पात्रता अथवा भक्ति कारण नहीं है। तुमने तो पहले केवल विभूति और योगको ही पूछा था। विभूति और योगका वर्णन करके मैंने अन्तमें कहा था कि तुझे जहाँ-कहीं जो कुछ विलक्षणता दीखे, वहाँ-वहाँ मेरी ही विभूति समझ। इस प्रकार तुम्हारे प्रश्नका उत्तर सम्यक् प्रकारसे मैंने दे ही दिया था। परन्तु वहाँ मैंने (‘अथवा’ पदसे) अपनी ही तरफसे

यह बात कही कि तुझे बहुत जाननेसे क्या मतलब ? देखने, सुनने, समझनेमें जो कुछ संसार आता है, उस सम्पूर्ण संसारको मैं अपने किसी अंशमें धारण करके स्थित हूँ। दूसरा भाव यह है कि तुझे मेरी विभूति और योगशक्तिको जाननेकी क्या जरूरत है ? क्योंकि सब विभूतियाँ मेरी योगशक्तिके आश्रित हैं और उस योगशक्तिका आश्रय मैं स्वयं तेरे सामने बैठा हूँ। यह बात तो मैंने विशेष कृपा करके ही कही थी। इस बातको लेकर ही तेरी विश्वरूप-दर्शनकी इच्छा हुई और मैंने दिव्यचक्षु देकर तुझे विश्वरूप दिखाया। यह तो मेरी कोरी प्रसन्नता-ही-प्रसन्नता है। तात्पर्य है कि इस विश्वरूपको दिखानेमें मेरी कृपाके सिवाय दूसरा कोई हेतु नहीं है। तेरी देखनेकी इच्छा तो निमित्तमात्र है।

‘आत्मयोगात्’—इस विराटरूपको दिखानेमें मैंने किसीकी सहायता नहीं ली, प्रत्युत केवल अपनी सामर्थ्यसे ही तेरेको यह रूप दिखाया है।

‘परम्’—मेरा यह विराटरूप अत्यन्त श्रेष्ठ है।

‘तेजोमयम्’—यह मेरा विश्वरूप अत्यन्त तेजोमय है। इसलिये दिव्यदृष्टि मिलनेपर भी तुमने इस रूपको दुर्निरीक्ष्य कहा है (सत्रहवाँ श्लोक)।

‘विश्वम्’—इस रूपको तुमने स्वयं विश्वरूप, विश्वमूर्ते आदि नामोंसे सम्बोधित किया है। मेरा यह रूप सर्वव्यापी है।

‘अनन्तमाद्यम्’—मेरे इस विश्वरूपका देश, काल आदिकी दृष्टिसे न तो आदि है और न अन्त ही है। यह सबका आदि है और स्वयं अनादि है।

‘यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्’—तेरे सिवाय मेरे विश्वरूपको पहले किसीने भी नहीं देखा—यह बात भगवान्ने कैसे कही ? क्योंकि रामावतारमें माता कौसल्याजीने और कृष्णावतारमें माता यशोदाजीने तथा कौरवसभामें भीष्म, द्रोण, संजय, विदुर और ऋषि-मुनियोंने भगवान्का विराटरूप देखा ही था ! इसका उत्तर यह है कि भगवान्ने अपने विराटरूपके लिये ‘एवंरूपः’ (११।४८) पद देकर कहा है कि इस प्रकारके भयंकर विश्वरूपको, जिसके मुखोंमें बड़े-बड़े योद्धा, सेनापति आदि जा रहे हैं, पहले किसीने नहीं देखा है।

दूसरी बात, अर्जुनके सामने युद्धका मौका होनेसे ऐसा भयंकर विश्वरूप दिखानेकी ही आवश्यकता थी और शूरवीर अर्जुन ही ऐसे रूपको देख सकते थे। परन्तु माता

कौसल्या आदिके सामने ऐसा रूप दिखानेकी आवश्यकता भी नहीं थी और वे ऐसा रूप देख भी नहीं सकते थे अर्थात् उनमें ऐसा रूप देखनेकी सामर्थ्य भी नहीं थी।

भगवान्ने यह तो कहा है कि इस विश्वरूपको पहले किसीने नहीं देखा, पर वर्तमानमें कोई नहीं देख रहा है—ऐसा नहीं कहा है। कारण कि अर्जुनके साथ-साथ संजय भी भगवान्के विश्वरूपको देख रहे हैं। अगर संजय न देखते तो वे गीताके अन्तमें यह कैसे कह सकते थे कि भगवान्के अति अद्भुत विराटरूपका बार-बार स्मरण करके मेरेको बड़ा भारी विस्मय हो रहा है और मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ (अठारहवें अध्यायका सतहत्तरवाँ श्लोक)।

विशेष बात

भगवान्के द्वारा ‘मैंने अपनी प्रसन्नतासे, कृपासे ही तेरेको यह विश्वरूप दिखाया है’—ऐसा कहनेसे एक विलक्षण भाव निकलता है कि साधक अपनेपर भगवान्की जितनी कृपा मानता है, उससे कई गुना अधिक भगवान्की कृपा होती है। भगवान्की जितनी कृपा होती है, उसको माननेकी सामर्थ्य साधकमें नहीं है। कारण कि भगवान्की कृपा अपार-असीम है; और उसको माननेकी सामर्थ्य सीमित है।

साधक प्रायः अनुकूल वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति आदिमें ही भगवान्की कृपा मान लेता है अर्थात् सत्संग मिलता है, साधन ठीक चलता है, वृत्तियाँ ठीक हैं, मन भगवान्में ठीक लग रहा है आदिमें वह भगवान्की कृपा मान लेता है। इस प्रकार केवल अनुकूलतामें ही कृपा मानना कृपाको सीमामें बाँधना है, जिससे असीम कृपाका अनुभव नहीं होता। उस कृपामें ही राजी होना कृपाका भोग है। साधकको चाहिये कि वह न तो कृपाको सीमामें बाँधे और न कृपाका भोग ही करे।

साधन ठीक चलनेमें जो सुख होता है, उस सुखमें सुखी होना, राजी होना भी भोग है, जिससे बन्धन होता है—‘सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ’ (गीता १४।६)। सुख होना अथवा सुखका ज्ञान होना दोषी नहीं है, प्रत्युत उसके साथ संग करना, उससे सुखी होना, प्रसन्न होना ही दोषी है। इससे अर्थात् साधनजन्य सात्त्विक सुख भोगनेसे गुणातीत होनेमें बाधा लगती है। अतः साधकको बड़ी सावधानीसे इस सुखसे असंग होना चाहिये। जो साधक इस सुखसे असंग नहीं होता अर्थात् इसमें प्रसन्नतापूर्वक सुख लेता रहता है, वह भी यदि अपनी साधनामें

तत्परतापूर्वक लगा रहे, तो समय पाकर उसकी उस सुखसे असंग रहता है, उसे शीघ्र ही वास्तविक तत्त्वका अनुभव स्वतः अरुचि हो जायगी। परन्तु जो उस सुखसे सावधानीपूर्वक हो जाता है।

सम्बन्ध—विश्वरूपदर्शनके लिये भगवान्की कृपाके सिवाय दूसरा कोई साधन नहीं है—इस बातका आगेके श्लोकमें विशेषतासे वर्णन करते हैं।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।

एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥ ४८ ॥

कुरुप्रवीर	= हे कुरुश्रेष्ठ !	अनुष्ठानसे,	च	= और
नृलोके	= मनुष्यलोकमें	न शास्त्रोंके	न	= न
एवंरूपः	= इस प्रकारके	अध्ययनसे*,	क्रियाभिः	= मात्र क्रियाओंसे
	विश्वरूपवाला	न	त्वदन्येन	= तेरे (कृपापात्रके)
अहम्	= मैं	दानैः		सिवाय और
न,		न		किसीके द्वारा
वेदयज्ञाध्ययनैः	= न वेदोंके	उग्रैः	द्रष्टुम्	= देखा जा
	पाठसे, न यज्ञोंके	तपोभिः	शक्यः	= सकता हूँ।

व्याख्या—‘कुरुप्रवीर’—यहाँ अर्जुनके लिये ‘कुरुप्रवीर’ सम्बोधन देनेका अभिप्राय है कि सम्पूर्ण कुरुवंशियोंमें मेरेसे उपदेश सुननेकी, मेरे रूपको देखनेकी और जाननेकी तेरी जिज्ञासा हुई, तो यह कुरुवंशियोंमें तुम्हारी श्रेष्ठता है। तात्पर्य यह हुआ कि भगवान्को देखनेकी, जाननेकी इच्छा होना ही वास्तवमें मनुष्यकी श्रेष्ठता है।

‘न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः’—वेदोंका अध्ययन किया जाय, यज्ञोंका विधि-विधानसे अनुष्ठान किया जाय, शास्त्रोंका अध्ययन किया जाय, बड़े-बड़े दान किये जायँ, बड़ी उग्र (कठिन-से-कठिन) तपस्याएँ की जायँ और तीर्थ, व्रत आदि शुभ-कर्म किये जायँ—ये सब-के-सब कर्म विश्वरूपदर्शनमें हेतु नहीं बन सकते। कारण कि जितने भी कर्म किये जाते हैं, उन सबका आरम्भ और समाप्ति होती है। अतः उन कर्मोंसे मिलनेवाला फल भी आदि और अन्तवाला ही होता है। अतः ऐसे कर्मोंसे भगवान्के अनन्त, असीम, अव्यय, दिव्य विश्वरूपके दर्शन कैसे हो सकते हैं? उसके दर्शन तो केवल भगवान्की कृपासे ही होते हैं। कारण कि भगवान् नित्य हैं और उनकी कृपा भी नित्य है। अतः नित्य

कृपासे ही अर्जुनको भगवान्के नित्य, अव्यय, दिव्य विश्वरूपके दर्शन हुए हैं। तात्पर्य यह हुआ कि उनमेंसे एक-एकमें अथवा सभी साधनोंमें यह सामर्थ्य नहीं है कि वे विराटरूपके दर्शन करा सकें। विराटरूपके दर्शन तो केवल भगवान्की कृपासे, प्रसन्नतासे ही हो सकते हैं।

गीतामें प्रायः यज्ञ, दान और तप—इन तीनोंका ही वर्णन आता है। आठवें अध्यायके अट्ठाईसवें श्लोकमें और इसी अध्यायके तिरपनवें श्लोकमें वेद, यज्ञ, दान और तप—इन चारोंका वर्णन आया है और यहाँ वेद, यज्ञ, दान, तप और क्रिया—इन पाँचोंका वर्णन आया है। आठवें अध्यायके अट्ठाईसवें श्लोकमें सप्तमी विभक्ति और बहुवचन तथा यहाँके श्लोकमें तृतीया विभक्ति और बहुवचनका प्रयोग हुआ है, जब कि दूसरी जगह प्रायः प्रथमा विभक्ति और एकवचनका प्रयोग आता है।

यहाँ तृतीया विभक्ति और बहुवचन देनेका तात्पर्य यह है कि इन वेद, यज्ञ, दान आदि साधनोंमेंसे एक-एक साधन विशेषतासे बहुत बार किया जाय अथवा सभी साधन विशेषतासे बहुत बार किये जायँ, तो भी वे सब-के-सब साधन विश्वरूपदर्शनके कारण नहीं बन सकते अर्थात् इनके द्वारा विश्वरूप नहीं देखा जा सकता। कारण कि विश्वरूपका

* अगर ‘वेदयज्ञाध्ययनैः’ पदका अर्थ ‘वेदोंका अध्ययन और यज्ञोंका अनुष्ठान’ लिया जाय तो वेदोंके अध्ययनके अन्तर्गत शास्त्रोंका अध्ययन भी आ जाता है; क्योंकि सभी शास्त्र वेदोंका ही अनुगमन करते हैं। परन्तु खुलासा करनेके लिये यहाँ शास्त्रोंका अध्ययन अलगसे लिया गया है।

दर्शन करना किसी कर्मका फल नहीं है।

जैसे यहाँ वेद, यज्ञ आदि साधनोंसे विश्वरूप नहीं देखा जा सकता—ऐसा कहकर विश्वरूपदर्शनकी दुर्लभता बतायी है, ऐसे ही आगे तिरपनवें श्लोकमें वेद, यज्ञ आदि साधनोंसे चतुर्भुजरूप नहीं देखा जा सकता—ऐसा कहकर चतुर्भुजरूप—दर्शनकी दुर्लभता बतायी है। चतुर्भुजरूपको देखनेमें अनन्यभक्तिको साधन बताया है। (इसी अध्यायका चौवनवाँ श्लोक); क्योंकि वह रूप ऐसा विलक्षण है कि उसका दर्शन देवता भी चाहते हैं। इसलिये उस रूपमें भक्ति हो सकती है। परन्तु विश्वरूपको देखकर तो भय लगता है; अतः ऐसे रूपमें भक्ति कैसे होगी, प्रेम कैसे होगा? इसलिये इसके दर्शनमें भक्तिको साधन नहीं बताया है। यह तो केवल भगवान्की प्रसन्नतासे, कृपासे ही देखा जा सकता है।

‘एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन’—मनुष्यलोकमें इन साधनोंसे तुम्हारे सिवाय मेरा विश्वरूप कोई देख नहीं सकता—इसका अर्थ यह नहीं है कि इन साधनोंसे तू देख सकता है। तुम्हारेको तो मैंने अपनी प्रसन्नतासे ही यह रूप दिखाया है।

संजयको भी जो विश्वरूपके दर्शन हो रहे थे, वह भी व्यासजीकी कृपासे प्राप्त दिव्यदृष्टिसे ही हो रहे थे, किसी दूसरे साधनसे नहीं। तात्पर्य है कि भगवान् और उनके भक्तों, सन्तोंकी कृपासे जो काम होता है, वह काम

साधनोंसे नहीं होता। इनकी कृपा भी अहैतुकी होती है।

कई लोग ठीक न समझनेके कारण ऐसा कहते हैं कि भगवान्ने अर्जुनको विश्वरूप दिखाया नहीं था, प्रत्युत यह समझा दिया था कि मेरे शरीरके किसी एक अंशमें अनन्त ब्रह्माण्ड हैं। पर वास्तवमें यह बात है ही नहीं। स्वयं भगवान्ने कहा है कि ‘मेरे इस शरीरमें एक जगह चराचर-सहित सम्पूर्ण जगत्को अभी देख ले’ (सातवाँ श्लोक)। जब अर्जुनको दिखायी नहीं दिया, तब भगवान्ने कहा कि ‘तू अपने इन चर्मचक्षुओंसे मेरे विश्वरूपको नहीं देख सकता, इसलिये मैं तुझे दिव्यचक्षु देता हूँ’ (आठवाँ श्लोक)। फिर भगवान्ने अर्जुनको दिव्यचक्षु देकर साक्षात् अपना विश्वरूप दिखाया। संजयने भी कहा है कि ‘भगवान्के शरीरमें एक जगह स्थित विश्वरूपको अर्जुनने देखा’ (तेरहवाँ श्लोक)। अर्जुनने भी विश्वरूपका दर्शन करते हुए कहा कि ‘मैं आपके शरीरमें सम्पूर्ण प्राणियोंके समुदायोंको तथा ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि सबको देख रहा हूँ’ (पन्द्रहवाँ श्लोक) आदि-आदि। इससे सिद्ध होता है कि भगवान्ने अर्जुनको प्रत्यक्षमें अपने विश्वरूपके दर्शन कराये थे। दूसरी बात, समझानेके लिये तो ज्ञानचक्षु होते हैं (गीता—तेरहवें अध्यायका चौतीसवाँ और पन्द्रहवें अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक), पर दिव्यचक्षुसे साक्षात् दर्शन ही होते हैं। अतः भगवान्ने केवल कहकर समझा दिया हो, ऐसी बात नहीं है।

सम्बन्ध—अर्जुनका भय दूर करनेके लिये भगवान् आगेके श्लोकमें उनको ‘देवरूप’ देखनेकी आज्ञा देते हैं।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम् ।

व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

इदम्	= यह	मा	= नहीं होनी चाहिये	त्वम्	= तू
मम	= मेरा	च	= और	पुनः	= फिर
ईदृङ्	= इस प्रकारका	विमूढभावः	= विमूढभाव (भी)	तत्, एव	= उसी
घोरम्	= उग्र	मा	= नहीं होना चाहिये।	मे	= मेरे
रूपम्	= रूप		(अब)	इदम्	= इस (चतुर्भुज)
दृष्ट्वा	= देखकर	व्यपेतभीः	= निर्भय (और)	रूपम्	= रूपको
ते	= तुझे	प्रीतमनाः	= प्रसन्न मनवाला	प्रपश्य	= अच्छी तरह देख
व्यथा	= व्यथा		होकर		ले।

व्याख्या—‘मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्’—विकराल दाढ़ोंके कारण भयभीत करनेवाले मेरे मुखोंमें योद्धालोग बड़ी तेजीसे जा रहे हैं,

उनमेंसे कई चूर्ण हुए सिरोंसहित दाँतोंके बीचमें फँसे हुए दीख रहे हैं और मैं प्रलयकालकी अग्निके समान प्रज्वलित मुखोंद्वारा सम्पूर्ण लोगोंका ग्रसन करते हुए उनको चारों

ओरसे चाट रहा हूँ—इस प्रकारके मेरे घोर रूपको देखकर तेरेको व्यथा नहीं होनी चाहिये, प्रत्युत प्रसन्नता होनी चाहिये। तात्पर्य है कि पहले (पैतालीसवें श्लोकमें) तू जो मेरी कृपाको देखकर हर्षित हुआ था, तो मेरी कृपाकी तरफ दृष्टि होनेसे तेरा हर्षित होना ठीक ही था, पर यह व्यथित होना ठीक नहीं है।

अर्जुनने जो पहले कहा है—‘प्रव्यथितास्तथाहम्’ (११।२३) और ‘प्रव्यथितान्तरात्मा’ (११।२४)। उसीके उत्तरमें भगवान् यहाँ कहते हैं—‘मा ते व्यथा।’

मैं कृपा करके ही ऐसा रूप दिखा रहा हूँ। इसको देखकर तेरेको मोहित नहीं होना चाहिये—‘मा च विमूढ-भावः।’ दूसरी बात, मैं तो प्रसन्न ही हूँ और अपनी प्रसन्नतासे ही तेरेको यह रूप दिखा रहा हूँ; परन्तु तू जो बार-बार यह कह रहा है कि ‘प्रसन्न हो जाओ; प्रसन्न हो जाओ’, यही तेरा विमूढभाव है। तू इसको छोड़ दे। तीसरी बात, पहले तूने कहा था कि मेरा मोह चला गया (पहला श्लोक), पर वास्तवमें तेरा मोह अभी नहीं गया है। तेरेको इस मोहको छोड़ देना चाहिये और निर्भय तथा प्रसन्न मनवाला होकर मेरा वह देवरूप देखना चाहिये।

तेरा और मेरा जो संवाद है, यह तो प्रसन्नतासे, आनन्दरूपसे, लीलारूपसे होना चाहिये। इसमें भय और मोह बिलकुल नहीं होने चाहिये। मैं तेरे कहे अनुसार घोड़े हाँकता हूँ, बातें करता हूँ, विश्वरूप दिखाता हूँ आदि सब कुछ करनेपर भी तूने मेरेमें कोई विकृति देखी है क्या? मेरेमें कुछ अन्तर आया है क्या? ऐसे ही मेरे विश्वरूपको देखकर तेरेमें भी कोई विकृति नहीं आनी चाहिये।

हे अर्जुन! तेरेको जो भय लग रहा है, वह शरीरमें अहंता-ममता (मैं-मेरापन) होनेसे ही लग रहा है अर्थात् अहंता-ममतावाली चीज (शरीर) नष्ट न हो जाय, इसको लेकर तू भयभीत हो रहा है—यह तेरी मूर्खता है, अनजानपना है। इसको तू छोड़ दे।

आज भी जिस-किसीको जहाँ-कहीं जिस-किसीसे भी

भय होता है, वह शरीरमें अहंता-ममता होनेसे ही होता है। शरीरमें अहंता-ममता होनेसे वह उत्पत्ति-विनाशशील वस्तु- (प्राणों-) को रखना चाहता है। यही मनुष्यकी मूर्खता है और यही आसुरी सम्पत्तिका मूल है। परन्तु जो भगवान्की तरफ चलनेवाले हैं, उनका प्राणोंमें मोह नहीं रहता, प्रत्युत उनका सर्वत्र भगवद्भाव रहता है और एकमात्र भगवान्में प्रेम रहता है। इसलिये वे निर्भय हो जाते हैं। उनका भगवान्की तरफ चलना दैवी सम्पत्तिका मूल है। नृसिंह-भगवान्के भयंकर रूपको देखकर देवता आदि सभी डर गये, पर प्रह्लादजी नहीं डरे; क्योंकि प्रह्लादजीकी सर्वत्र भगवद्बुद्धि थी। इसलिये वे नृसिंहभगवान्के पास जाकर उनके चरणोंमें गिर गये और भगवान्ने उनको उठाकर गोदमें ले लिया तथा उनको जीभसे चाटने लगे।

‘व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य’—अर्जुनने पैतालीसवें श्लोकमें कहा था—‘भयेन च प्रव्यथितं मनो मे’; अतः भगवान्ने ‘भयेन’ के लिये कहा है—‘व्यपेतभीः’ अर्थात् तू भयरहित हो जा और ‘प्रव्यथितं मनः’ के लिये कहा है—‘प्रीतमनाः’ अर्थात् तू प्रसन्न मनवाला हो जा।

भगवान्ने विराटरूपमें अर्जुनको जो चतुर्भुजरूप दिखाया था, उसीके लिये भगवान् ‘पुनः’ पद देकर कह रहे हैं कि वही मेरा यह रूप तू फिर अच्छी तरहसे देख ले।

‘तदेव’ कहनेका तात्पर्य है कि तू देवरूप (विष्णुरूप-) के साथ ब्रह्मा, शंकर आदि देवता और भयानक विश्वरूप नहीं देखना चाहता, केवल देवरूप ही देखना चाहता है; इसलिये वही रूप तू अच्छी तरहसे देख ले।

अर्जुनकी प्रार्थनाके अनुसार भगवान् अभी जो रूप दिखाना चाहते हैं, उसके लिये भगवान्ने यहाँ ‘इदम्’ शब्दका प्रयोग किया है।

संजय और अर्जुनकी दिव्यदृष्टि कबतक रही ?

संजयको वेदव्यासजीने युद्धके आरम्भमें दिव्यदृष्टि दी थी,^१ जिससे वे धृतराष्ट्रको युद्धके समाचार सुनाते रहे।

१-अपनेमें कई तरहका परिवर्तन देखनेपर भी अर्जुन सब अवस्थाओंमें भगवान्को निर्विकार ही मानते हैं, तभी तो उन्होंने गीताके आदि, मध्य तथा अन्तमें (गीता—पहले अध्यायके इक्कीसवें, ग्यारहवें अध्यायके बयालीसवें और अठारहवें अध्यायके तिहत्तरवें श्लोकमें) भगवान्के लिये ‘अच्युत’ सम्बोधनका प्रयोग किया है।

२-एष ते संजयो राजन् युद्धमेतद् वदिष्यति। एतस्य सर्वसंग्रामे न परोक्षं भविष्यति ॥

चक्षुषा संजयो राजन् दिव्येनैव समन्वितः। कथयिष्यति ते युद्धं सर्वज्ञश्च भविष्यति ॥

(महा०, भीष्म० २। ९-१०)

‘राजन्! यह संजय आपको इस युद्धका सब समाचार बताया करेगा। सम्पूर्ण संग्रामभूमिमें कोई ऐसी बात नहीं होगी, जो इसके प्रत्यक्ष न हो। राजन्! संजय दिव्यदृष्टिसे सम्पन्न होकर सर्वज्ञ हो जायगा और तुम्हें युद्धकी बात बतायेगा।’

परन्तु अन्तमें जब दुर्योधनकी मृत्युपर संजय शोकसे व्याकुल हो गये, तब संजयकी वह दिव्यदृष्टि चली गयी* ।

अर्जुनके द्वारा विश्वरूप दिखानेकी प्रार्थना करनेपर भगवान्ने अर्जुनको दिव्यदृष्टि दी—‘दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्’ (११।८) और अर्जुन विराटरूप भगवान्के देवरूप, उग्ररूप आदि रूपोंके दर्शन करने लगे। जब अर्जुनके सामने अत्युग्र रूप आया, तब वे डर गये और भगवान्की स्तुति-प्रार्थना करते हुए कहने लगे कि ‘मेरा मन भयसे व्यथित हो रहा है, आप मेरेको वही चतुर्भुजरूप दिखाइये।’ तब भगवान्ने अपना चतुर्भुजरूप दिखाया और फिर द्विभुजरूपसे हो गये। इससे सिद्ध होता है कि यहाँ (उनचासवें श्लोक-) तक ही अर्जुनकी दिव्यदृष्टि रही। इक्यावनवें श्लोकमें स्वयं अर्जुनने कहा है कि ‘मैं आपके सौम्य मनुष्यरूपको देखकर सचेत हो गया हूँ और अपनी स्वाभाविक स्थितिको प्राप्त हो गया हूँ।’

यहाँ शंका होती है कि अर्जुन तो पहले भी व्यथित (व्याकुल) हुए थे—‘दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्’ (११।२३), ‘दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा’ (११।२४); अतः वहीं उनकी दिव्यदृष्टि चली जानी चाहिये थी। इसका समाधान यह है कि वहाँ अर्जुन इतने भयभीत नहीं हुए थे, जितने यहाँ हुए हैं। यहाँ तो अर्जुन भयभीत होकर भगवान्को बार-बार नमस्कार करते हैं और उनसे चतुर्भुजरूप दिखानेके लिये प्रार्थना भी करते हैं (पैतालीसवाँ

श्लोक)। इसलिये यहाँ अर्जुनकी दिव्यदृष्टि चली जाती है।

दूसरा कारण यह भी माना जा सकता है कि पहले अर्जुनकी विश्वरूप देखनेकी विशेष रुचि (इच्छा) थी—‘द्रष्टुमिच्छामि ते रूपम्’ (११।३), इसलिये भगवान्ने अर्जुनको दिव्यदृष्टि दी; परन्तु यहाँ अर्जुनकी विश्वरूप देखनेकी रुचि नहीं रही और वे भयभीत होनेके कारण चतुर्भुजरूप देखनेकी इच्छा करते हैं, इसलिये (दिव्य-दृष्टिकी आवश्यकता न रहनेसे) उनकी दिव्यदृष्टि चली जाती है।

अगर संजय और अर्जुन शोकसे, भयसे व्यथित (व्याकुल) न होते, तो उनकी दिव्यदृष्टि बहुत समयतक रहती और वे बहुत कुछ देख लेते। परन्तु शोक और भयसे व्यथित होनेके कारण उनकी दिव्यदृष्टि चली गयी। इसी तरहसे जब मनुष्य मोहसे संसारमें आसक्त हो जाता है, तब भगवान्की दी हुई विवेकदृष्टि काम नहीं करती। जैसे, मनुष्यका रुपयोंमें अधिक मोह होता है तो वह चोरी करने लग जाता है, फिर और मोह बढ़नेपर डकैती करने लग जाता है तथा अत्यधिक मोह बढ़ जानेपर वह रुपयोंके लिये दूसरेकी हत्यातक कर देता है। इस प्रकार ज्यों-ज्यों मोह बढ़ता है, त्यों-ही-त्यों उसका विवेक काम नहीं करता। अगर मनुष्य मोहमें न फँसकर अपनी विवेकदृष्टिको महत्त्व देता, तो वह अपना उद्धार करके संसारमात्रका उद्धार करनेवाला बन जाता!

परिशिष्ट भाव—अर्जुनने घबराकर भगवान्से कहा—‘तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्’ (११।४२) तो भगवान् यहाँ कहते हैं कि मैं चाहे शान्त अथवा उग्र किसी भी रूपमें दिखायी दूँ, हूँ तो मैं तुम्हारा सखा ही! तुम डर गये तो यह तुम्हारी मूढ़ता है, मित्रतामें ढिलाई है! जो कुछ दीख रहा है, वह सब मेरी ही लीला है। इसमें घबरानेकी क्या बात है? मित्रतामें कौन बड़ा और कौन छोटा?

भगवान् ही जगत्-रूपसे प्रकट हुए हैं, इसलिये यह जगत् भगवान्का आदि अवतार कहा जाता है—‘आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य’ (श्रीमद्भा० २।६।४१)। जैसे भगवान्ने राम, कृष्ण आदि रूपोंसे अवतार लिया है, ऐसे ही जगत्-रूपसे भी अवतार लिया है। इसको अवतार इसलिये कहा है कि इसमें भगवान् दृश्यरूपसे दीखनेमें आ जाते हैं। अवतारके समय लौकिक दृष्टिसे दीखनेपर भी भगवान् सदा अलौकिक ही रहते हैं (गीता—चौथे अध्यायका छठा श्लोक)। परन्तु राग-द्वेषके कारण अज्ञानियोंको भगवान् लौकिक दीखते हैं (गीता—सातवें अध्यायका चौबीसवाँ-पचीसवाँ और नवें अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक)।

भगवान् शान्त अथवा उग्र किसी भी रूपमें आयें, उसकी मरजी है। सुन्दर दृश्य हो, पुष्प खिले हों, सुगन्ध आ रही हो तो वह भी भगवान्का रूप है और मांस, हड्डियाँ, मैला पड़ा हो, दुर्गन्ध आ रही हो तो वह भी भगवान्का रूप है।

* तव पुत्रे गते स्वर्गे शोकार्तस्य ममानघ। ऋषिदत्तं प्रणष्टे तद् दिव्यदर्शित्वमद्य वै॥

(महा०, सौप्तिक० ९।६२)

‘निष्पाप नरेश! आपके पुत्रके स्वर्गलोकमें चले जानेसे मैं शोकसे आतुर हो गया हूँ और महर्षि व्यासजीकी दी हुई मेरी वह दिव्यदृष्टि भी अब नष्ट हो गयी है।’

भगवान्के सिवाय कुछ नहीं है। भगवान्ने राम, कृष्ण आदि रूप भी धारण किये और मत्स्य, कच्छप, वराह आदि रूप भी धारण किये। वे कोई भी रूप धारण करें, हैं तो भगवान् ही! रूप तो भगवान्का है और क्रिया उनकी लीला है। कोई पाप, अन्याय करता हुआ दीखे तो समझे कि भगवान् कलियुगकी लीला कर रहे हैं। वे जैसा रूप धारण करते हैं, वैसी ही लीला (क्रिया) करते हैं^१। मूर्तिकारूप (अर्चावतार) धारण करके वे मूर्तिकी तरह ही अचल रहनेकी लीला करते हैं। मूर्तिरूप धारण करके क्रिया करनेमें शोभा नहीं है, प्रत्युत क्रिया न करनेमें ही शोभा है, अन्यथा वह अर्चावतार कैसे रहेगा? वराह (सूअर) का रूप धारण करके वे वराहकी तरह क्रिया करते हैं और मनुष्यका रूप धारण करके वे मनुष्यकी तरह क्रिया करते हैं^२। वे कोई भी रूप धारण करके कैसी ही क्रिया करें, उससे भक्तोंके हृदयमें कोई विकार नहीं होता, क्योंकि उनकी दृष्टिमें एक भगवान्के सिवाय और कुछ है ही नहीं, हुआ ही नहीं, होगा ही नहीं, होना सम्भव ही नहीं।

हमें जो संसार दीखता है, यह भगवान्का विराटरूप नहीं है; क्योंकि विराटरूप तो दिव्य और अव्यय है, पर दीखनेवाला संसार भौतिक और नाशवान् है। जैसे हमें भौतिक वृन्दावन तो दीखता है, पर उसके भीतरका दिव्य वृन्दावन नहीं दीखता, ऐसे ही हमें भौतिक विश्व तो दीखता है, पर उसके भीतरका दिव्य विश्व (विराटरूप) नहीं दीखता, ऐसा दीखनेमें कारण है—सुखभोगकी इच्छा। भोगेच्छाके कारण ही जड़ता, भौतिकता, मलिनता आयी है। अगर भोगेच्छाको लेकर संसारमें आकर्षण न हो तो सब कुछ चिन्मय विराटरूप ही है।

तत्त्वबोध होनेपर ज्ञानीको तो संसार चिन्मयरूपसे दीखता है, पर प्रेमी भक्तको वह माधुर्यरूपसे दीखता है। माधुर्यरूपसे दीखनेपर जैसे अपने शरीरमें सबकी स्वाभाविक प्रियता होती है, ऐसे ही भक्तकी मात्र प्राणियोंके साथ स्वाभाविक प्रियता होती है। परन्तु अर्जुनने ऐश्वर्यरूपसे भगवान्का विराटरूप देखा था; क्योंकि वे वही रूप देखना चाहते थे—‘द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम’ (११।३)। माधुर्यमें प्रियता विशेष होती है और ऐश्वर्यमें प्रभाव विशेष होता है। तात्पर्य है कि दिव्य विराटरूप एक होनेपर भी भावनाके अनुसार अनेक रूपोंमें दीखता है और अनेकरूपसे दीखनेपर भी एक ही रहता है। एकतामें अनेकता और अनेकतामें एकता भगवान्की विलक्षणता, अलौकिकता, विचित्रता है।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें भगवान्ने अर्जुनको जिस रूपको देखनेके लिये आज्ञा दी, उसीके अनुसार भगवान् अपना विष्णुरूप दिखाते हैं—इसका वर्णन संजय आगेके श्लोकमें करते हैं।

सञ्जय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।

आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

संजय बोले—

वासुदेवः	= वासुदेवभगवान्ने	रूपम्	= रूप (देवरूप)	भूत्वा	= होकर
अर्जुनम्	= अर्जुनसे	दर्शयामास	= दिखाया	एनम्	= इस
इति	= ऐसा	च	= और	भीतम्	= भयभीत
उक्त्वा	= कहकर	महात्मा	= महात्मा श्रीकृष्णने		अर्जुनको
भूयः	= फिर	पुनः	= पुनः	आश्वासया-	
तथा	= उसी प्रकारसे	सौम्यवपुः	= सौम्यरूप (द्विभुज	मास	= आश्वासन
स्वकम्	= अपना		मानुषरूप)		दिया।

वाख्या—‘इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः’—अर्जुनने जब भगवान्से चतुर्भुजरूप होनेके लिये प्रार्थना की, तब भगवान्ने कहा कि मेरे इस विश्वरूपको देखकर तू व्यथित और भयभीत मत हो।

१-जथा अनेक बेष धरि नृत्य करइ नट कोइ। सोइ सोइ भाव देखावइ आपुन होइ न सोइ ॥

(मानस, उत्तर० ७२ ख)

२-देखें, चौथे अध्यायके नवें श्लोकका परिशिष्ट भाव।

तू प्रसन्न मनवाला होकर मेरे इस रूपको देख (उनचासवाँ श्लोक)। भगवान्‌के इसी कथनको संजयने यहाँ 'इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा' पदोंसे कहा है।

'तथा' कहनेका तात्पर्य है कि जिस प्रकार कृपाके परवश होकर भगवान्‌ने अपना विश्वरूप दिखाया था, उसी प्रकार कृपाके परवश होकर भगवान्‌ने अर्जुनको चतुर्भुजरूप दिखाया। इस चतुर्भुजरूपको देखनेमें अर्जुनकी कोई साधना हो, योग्यता हो—यह बात नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌की कृपा-ही-कृपा है।

'भूयः' कहनेका तात्पर्य है, जिस देवरूप-(चतुर्भुज-रूप-) को अर्जुनने विश्वरूपके अन्तर्गत देखा था (पन्द्रहवाँ और सत्रहवाँ श्लोक) और जिसे दिखानेके लिये अर्जुनने प्रार्थना की थी (पैंतालीसवाँ-छियालीसवाँ श्लोक), वही रूप भगवान्‌ने फिर दिखाया।

'आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्य-वपुर्महात्मा'— भगवान्‌ श्रीकृष्णने अर्जुनको पहले चतुर्भुजरूप दिखाया। फिर अर्जुनकी प्रसन्नताके लिये महात्मा भगवान्‌ श्रीकृष्ण पुनः द्विभुजरूप-(मनुष्यरूप-) से प्रकट हो गये और उन्होंने विश्वरूपको देखनेसे भयभीत हुए अर्जुनको आश्वासन दिया।

भगवान्‌ श्रीकृष्ण द्विभुज थे या चतुर्भुज? इसका उत्तर है कि भगवान्‌ हरदम द्विभुजरूपसे ही रहते थे, पर समय-समयपर जहाँ उचित समझते थे, वहाँ चतुर्भुजरूप हो जाते थे।

दसवें और ग्यारहवें अध्यायमें भगवान्‌ने अपनी विभूतियोंका वर्णन करनेमें भी अपनी महत्ता, प्रभाव सामर्थ्यको बताया है और अपने अत्यन्त विलक्षण विश्व-रूपको दिखानेमें भी अपने प्रभावको बताया है। अगर मनुष्य भगवान्‌के ऐसे महान्‌ प्रभावको जान ले अथवा मान ले, तो उसका संसारमें आकर्षण नहीं रहे। वह सदाके लिये संसार-बन्धनसे छूट जाय।

अर्जुनपर भगवान्‌की कितनी अद्भुत कृपा है कि भगवान्‌ने पहले विश्वरूप दिखाया, फिर देवरूप (चतुर्भुज-रूप) दिखाया और फिर मानुषरूप (द्विभुजरूप) हो गये। इसके साथ-साथ भगवान्‌ने हमलोगोंपर भी कितनी अलौकिक विलक्षण कृपा की है कि जहाँ-कहीं जिस किसी विशेषताको लेकर हमारा मन चला जाय, वहीं हम भगवान्‌का चिन्तन कर सकते हैं और भगवान्‌के विश्वरूपका पठन-पाठन, चिन्तन कर सकते हैं। इस भयंकर समयमें हमें भगवान्‌की विभूतियों तथा विश्वरूपके चिन्तन आदिका जो मौका मिला है, इसमें हमारा उद्योग, योग्यता कारण नहीं है, प्रत्युत भगवान्‌की कृपा ही कारण है। भगवान्‌की इस कृपाको देखकर हमें प्रसन्न हो जाना चाहिये। इन विभूतियोंको सुनने और विश्वरूपके चिन्तन-स्मरणका मौका तो उस समय भी संजय आदि बहुत थोड़े लोगोंको ही मिला था। वही मौका आज हमें प्राप्त हुआ है। अतः ऐसे मौकेको व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिये।

सम्बन्ध—भगवान्‌ने मनुष्यरूप होकर जब अर्जुनको आश्वासन दिया, तब अर्जुन बोले—

अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ ५१ ॥

अर्जुन बोले—

जनार्दन = हे जनार्दन!
तव = आपके
इदम् = इस
सौम्यम् = सौम्य
मानुषम् = मनुष्य

रूपम् = रूपको
दृष्ट्वा = देखकर (मैं)
इदानीम् = इस समय
सचेताः = स्थिरचित्त
संवृत्तः = हो गया

अस्मि = हूँ (और)
प्रकृतिम् = अपनी स्वाभाविक
स्थितिको
गतः = प्राप्त हो
गया हूँ।

व्याख्या—'दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन'— आपके मनुष्यरूपमें प्रकट होकर लीला करनेवाले रूपको

देखकर गायेँ, पशु-पक्षी, वृक्ष, लताएँ आदि भी पुलकित हो जाती हैं*, ऐसे सौम्य द्विभुजरूपको देखकर मैं होशमें आ

* त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन् ॥ (श्रीमद्भा० १०। २९। ४०)

गया हूँ, मेरा चित्त स्थिर हो गया है—‘इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः’, विराटरूपको देखकर जो मैं भयभीत हो गया था, वह सब भय अब मिट गया है, सब व्यथा चली गयी है और मैं अपनी वास्तविक स्थितिको प्राप्त हो गया हूँ—‘प्रकृतिं गतः।’ यहाँ ‘सचेताः’ कहनेका तात्पर्य है कि जब अर्जुनकी

दृष्टि भगवान्की कृपाकी तरफ गयी, तब अर्जुनको होश आया और वे सोचने लगे कि कहाँ तो मैं और कहाँ भगवान्का विस्मयकारक विलक्षण विराटरूप! इसमें मेरी कोई योग्यता, अधिकारिता नहीं है। इसमें तो केवल भगवान्की कृपा-ही-कृपा है।

परिशिष्ट भाव—भगवान्का सौम्यरूप द्विभुज होनेके कारण अर्जुनने उसको मनुष्यरूप कहा है। भगवान् श्रीकृष्ण द्विभुज थे। ब्रह्मवैवर्तपुराणमें आया है—

त्वमेव भगवानाद्यो निर्गुणः प्रकृतेः परः। अर्द्धांगो द्विभुजः कृष्णोऽप्यर्द्धांगेन चतुर्भुजः ॥

(प्रकृति० १२। १५)

‘आप सबके आदि, निर्गुण और प्रकृतिसे अतीत भगवान् ही अपने आधे अंगसे द्विभुज कृष्ण और आधे अंगसे चतुर्भुज विष्णुके रूपमें प्रकट हुए हैं।’

द्विभुजो राधिकाकान्तो लक्ष्मीकान्तश्चतुर्भुजः। गोलोके द्विभुजस्तस्थौ गोपैर्गोपीभिरावृतः ॥

चतुर्भुजश्च वैकुण्ठं प्रययौ पद्मया सह। सर्वांशेन समौ तौ द्वौ कृष्णानारायणौ परौ ॥

(प्रकृति० ३५। १४-१५)

‘द्विभुज कृष्ण राधिकापति हैं और चतुर्भुज विष्णु लक्ष्मीपति हैं। कृष्ण गोप-गोपियोंसे आवृत होकर गोलोकमें और विष्णु लक्ष्मीके साथ (पार्षदोंसहित) वैकुण्ठमें स्थित हैं। वे कृष्ण और विष्णु—दोनों सब प्रकारसे समान अर्थात् एक ही हैं।’ तात्पर्य है कि द्विभुजरूप (कृष्ण), चतुर्भुजरूप (विष्णु) और सहस्रभुजरूप (विराटरूप)—तीनों एक ही समग्र भगवान्के रूप हैं।

सम्बन्ध—अर्जुनकी कृतज्ञताका अनुमोदन करते हुए भगवान् कहते हैं—

श्रीभगवानुवाच

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।

देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः ॥ ५२ ॥

श्रीभगवान् बोले—

मम	= मेरा	सुदुर्दर्शम्	= इसके दर्शन अत्यन्त ही दुर्लभ हैं।	रूपस्य	= रूपको
इदम्	= यह	देवाः	= देवता	नित्यम्,	
यत्	= जो	अपि	= भी	दर्शनकाङ्क्षिणः	= देखनेके लिये नित्य
रूपम्	= (चतुर्भुज) रूप	अस्य	= इस		लालायित
दृष्टवान्,					रहते हैं।
असि	= (तुमने) देखा है,				

व्याख्या—‘सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम’— यहाँ ‘सुदुर्दर्शम्’ पद चतुर्भुजरूपके लिये ही आया है, विराटरूप या द्विभुजरूपके लिये नहीं। कारण कि विराटरूपकी तो देवता भी कल्पना क्यों करने लगे! और मनुष्यरूप जब मनुष्योंके लिये सुलभ था, तब देवताओंके लिये वह दुर्लभ कैसे होता! इसलिये ‘सुदुर्दर्शम्’ पदसे भगवान् विष्णुका चतुर्भुजरूप ही लेना चाहिये, जिसके लिये ‘देवरूपम्’ (११। ४५) और ‘स्वकं रूपम्’ (११।

५०) पद आये हैं।

‘देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः’— भगवान्ने यहाँ कहा है कि मेरा यह जो चतुर्भुजरूप है इसके दर्शन बड़े ही दुर्लभ हैं। आगे तिरपनवें-चौवनवें श्लोकोंमें कहा है कि इस चतुर्भुजरूपके दर्शन वेद, यज्ञ, तप, दान आदि साधनोंसे नहीं हो सकते; प्रत्युत इसके दर्शन तो अनन्यभक्तिसे ही हो सकते हैं। अब यहाँ एक शंका होती है कि देवता भी इस रूपके दर्शनकी नित्य आकांक्षा

(लालसा) रखते हैं, फिर उनको दर्शन क्यों नहीं होते? जब कि भगवान्‌के दर्शनकी नित्य लालसा रहना अनन्य-भक्ति ही है। इसका समाधान यह है कि वास्तवमें देवताओंकी नित्य लालसा अनन्यभक्ति नहीं है।

नित्य लालसा रखनेका तात्पर्य है कि नित्य-निरन्तर एक परमात्माकी ही लालसा लगी रहे और दूसरी कोई लालसा न रहे। ऐसी लालसावाला दुराचारी-से-दुराचारी मनुष्य भी भगवान्‌का भक्त हो जाता है और उसे भगवत्प्राप्ति हो जाती है। परन्तु ऐसी अनन्य लालसा देवताओंकी नहीं होती; क्योंकि वे प्रायः भोग भोगनेके लिये ही देवता बने हैं और उनका प्रायः भोग भोगनेका ही उद्देश्य होता है। तो फिर उनकी लालसा कैसी होती है? जैसी लालसा (इच्छा) प्रायः सभी आस्तिक मनुष्योंमें रहती है कि 'हमें भगवान्‌के दर्शन हो जायँ, हमारा कल्याण हो जाय।' उनकी ऐसी इच्छा तो रहती है, पर भोग और संग्रहकी रुचि ज्यों-की-त्यों बनी रहती है। तात्पर्य है कि जैसे मार्गमें चलते हुए किसीको मणि मिल जाय, ऐसे ही (गौणतासे) हमारी मुक्ति हो जाय तो अच्छी बात है^१—इस प्रकार जैसे मनुष्योंमें मुक्तिकी इच्छा गौण होती है, ऐसे ही भगवान्‌ दर्शन दें तो हम भी दर्शन कर लें—इस प्रकार देवताओंमें दर्शनकी इच्छा गौण होती है।

देवतालोग 'हम इतने ऊँचे पदपर हैं, हमारे लोक, शरीर और भोग दिव्य हैं, हम बड़े पुण्यशाली हैं; अतः हमें भगवान्‌के दर्शन होने चाहिये'—ऐसी कोरी इच्छा ही

करते हैं, इसलिये उनको कभी दर्शन होंगे नहीं। कारण कि उनमें देवत्व, पद आदिका अभिमान है। अभिमानसे, पद आदिके बलसे भगवान्‌के दर्शन नहीं हो सकते। इसलिये अर्जुनने दसवें अध्यायके चौदहवें श्लोकमें कहा है कि 'हे भगवन्! आपके प्रकट होनेको देवता और दानव भी नहीं जानते।' इस प्रकार अर्जुनने भगवान्‌को न जाननेमें देवताओं और दानवोंको एक श्रेणीमें लिया है। इसका तात्पर्य यही है कि जैसे देवताओंके पास वैभव है, ऐसे ही दानवोंके पास विचित्र-विचित्र माया है, सिद्धियाँ हैं, पर उनके बलपर वे भगवान्‌को नहीं जान सकते। ऐसे ही देवता भगवान्‌के दर्शनकी लालसा भी रखें, तो भी उनको देवत्व-शक्तिसे दर्शन नहीं हो सकते; क्योंकि भगवान्‌के दर्शनमें देवत्व कारण नहीं है। तात्पर्य है कि भगवान्‌को न तो देवत्व-शक्तिसे देखा जा सकता है और न यज्ञ, तप, दान आदि शुभ-कर्मोंसे ही देखा जा सकता है (इसी अध्यायका तिरपनवाँ श्लोक)। उनको तो अनन्यभक्तिसे ही देखा जा सकता है (चौवनवाँ श्लोक)। अनन्यभक्तिसे देवता और मनुष्य—दोनों ही भगवान्‌को देख सकते हैं।

'देवा अपि' कहनेका तात्पर्य है कि जिन पुण्योंके कारण देवताओंको ऊँचा पद मिला है, ऊँचे (दिव्य)भोग मिले हैं, उन पुण्योंके बलसे, पद आदिके बलसे वे भगवान्‌के दर्शन नहीं कर सकते। तात्पर्य है कि पुण्यकर्म ऊँचे लोक, ऊँचे भोग तो दे सकते हैं, पर भगवान्‌के दर्शन करानेकी उनमें सामर्थ्य नहीं है। भगवान्‌के दर्शनमें यह प्राकृत महत्त्व कुछ भी मूल्य नहीं रखता।

परिशिष्ट भाव—यद्यपि देवताओंका शरीर दिव्य होता है, पर भगवान्‌का शरीर उससे भी विलक्षण होता है। देवताओंका शरीर भौतिक तेजोमय और भगवान्‌का शरीर चिन्मय होता है। भगवान्‌का शरीर सत्-चित्-आनन्दमय, नित्य, अलौकिक और अत्यन्त दिव्य होता है^२। अतः देवता भी भगवान्‌को देखनेके लिये लालायित रहते हैं। जैसे साधारण लोगोंमें नये-नये स्थान देखनेका शौक रहता है, ऐसे ही देवताओंमें भगवान्‌को देखनेका शौक है, प्रेम नहीं। तात्पर्य है कि जैसे भक्त प्रेमपूर्वक भगवान्‌को देखना चाहते हैं, ऐसे देवता नहीं देखना चाहते। इसलिये भगवान्‌ प्रेमी भक्तोंके तो अधीन हैं, पर देवताओंके अधीन नहीं हैं।

सम्बन्ध—पूर्वश्लोकमें कही हुई बातको ही भगवान्‌ आगेके श्लोकमें पुष्ट करते हैं।

**नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥ ५३ ॥**

१-मार्गे प्रयाते मणिलाभवन्मे लभेत मोक्षो यदि तर्हि धन्यः ।

२-चिदानन्दमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी ॥ (मानस, अयोध्या० १२७। ३)

यथा	= जिस प्रकार (तुमने)	अहम्	= (चतुर्भुजरूपवाला)मैं	दानेन	= दानसे
माम्	= मुझे	न	= न तो	च	= और
दृष्टवान्	= देखा	वेदैः	= वेदोंसे,	न	= न
असि	= है,	न	= न	इज्यया	= यज्ञसे ही
एवंविधः	= इस प्रकारका	तपसा	= तपसे,	द्रष्टुम्	= देखा
		न	= न	शक्यः	= जा सकता हूँ।

व्याख्या—‘दृष्टवानसि मां यथा’—तुमने मेरा चतुर्भुजरूप मेरी कृपासे ही देखा है। तात्पर्य है कि मेरे दर्शन मेरी कृपासे ही हो सकते हैं, किसी योग्यतासे नहीं।

‘नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया शक्य एवंविधो द्रष्टुम्’—यह एक सिद्धान्तकी बात है कि जो चीज किसी मूल्यसे खरीदी जाती है, वह चीज उस मूल्यसे कम मूल्यकी ही होती है। जैसे, कोई दूकानदार एक घड़ी सौ रुपयेमें बेचता है, तो उसने वह घड़ी कम मूल्यमें ली है, तभी तो वह सौ रुपयेमें देता है। इसी तरह अनेक वेदोंका अध्ययन करनेपर, बहुत बड़ी तपस्या करनेपर, बहुत बड़ा दान देनेपर तथा बहुत बड़ा यज्ञ-अनुष्ठान करनेपर भगवान् मिल जायँगे—ऐसी बात नहीं है। कितनी ही महान् क्रिया क्यों न हो, कितनी ही योग्यता सम्पन्न क्यों न की जाय, उसके द्वारा भगवान् खरीदे नहीं जा सकते। वे सब-के-सब मिलकर भी भगवत्प्राप्तिका मूल्य नहीं हो सकते। उनके द्वारा भगवान्पर अधिकार नहीं जमाया जा सकता। अर्जुनने इसी अध्यायके तैत्तलीसर्वे श्लोकमें साफ कहा है कि त्रिलोकीमें आपके समान भी कोई नहीं है, फिर आपसे अधिक हो ही कैसे सकता है? तात्पर्य है कि आपसे अधिक हुए बिना आपपर अधिकार नहीं किया जा सकता।

सांसारिक चीजोंमें तो अधिक योग्यतावाला कम योग्यतावालेपर आधिपत्य कर सकता है, अधिक बुद्धिमान् कम बुद्धिवालोंपर अपना रोब जमा सकता है, अधिक धनवान् निर्धनोंपर अपनी अधिकता प्रकट कर सकता है; परन्तु भगवान् किसी बल, बुद्धि, योग्यता, व्यक्ति, वस्तु आदिसे खरीदे नहीं जा सकते। कारण कि जिस भगवान्के

संकल्पमात्रसे तत्काल अनन्त ब्रह्माण्डोंकी रचना हो जाती है, उसे एक ब्रह्माण्डके भी किसी अंशमें रहनेवाले किसी वस्तु, व्यक्ति आदिसे कैसे खरीदा जा सकता है? तात्पर्य यह है कि भगवान्की प्राप्ति केवल भगवान्की कृपासे ही होती है। वह कृपा तब प्राप्त होती है, जब मनुष्य अपनी सामर्थ्य, समय, समझ, सामग्री आदिको भगवान्के सर्वथा अर्पण करके अपनेमें सर्वथा निर्बलता, अयोग्यताका अनुभव करता है अर्थात् अपने बल, योग्यता आदिका किंचिन्मात्र भी अभिमान नहीं करता। इस प्रकार जब वह सर्वथा निर्बल होकर अपने-आपको भगवान्के सर्वथा समर्पित करके अनन्यभावसे भगवान्को पुकारता है, तब भगवान् तत्काल प्रकट हो जाते हैं। कारण कि जबतक मनुष्यके अन्तःकरणमें प्राकृत वस्तु, योग्यता, बल, बुद्धि आदिका महत्त्व और सहारा रहता है, तबतक भगवान् अत्यन्त नजदीक होनेपर भी दूर दीखते हैं।

इस श्लोकमें जो दुर्लभता बतायी गयी है, वह चतुर्भुजरूपके लिये ही बतायी गयी है, विश्वरूपके लिये नहीं। अगर इसको विश्वरूपके लिये ही मान लिया जाय तो पुनरुक्ति-दोष आ जायगा; क्योंकि पहले अड़तालीसर्वे श्लोकमें विश्वरूपकी दुर्लभता बतायी जा चुकी है। दूसरी बात, आगेके श्लोकमें भगवान्ने अनन्यभक्तिसे अपनेको देखा जाना शक्य बताया है। विश्वरूपमें अनन्यभक्ति हो ही नहीं सकती, क्योंकि अर्जुन-जैसे शूरवीर पुरुष भगवान्से दिव्यदृष्टि प्राप्त करके भी विश्वरूपको देखकर भयभीत हो गये, तो उस रूपमें अनन्यभक्ति, अनन्यप्रेम, आकर्षण कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता।

सम्बन्ध—जब कोई किसी साधनसे, किसी योग्यतासे, किसी सामग्रीसे आपको प्राप्त नहीं कर सकता, तो फिर आप कैसे प्राप्त किये जाते हैं—इसका उत्तर भगवान् आगेके श्लोकमें देते हैं।

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।

ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥ ५४ ॥

तु	= परन्तु	अनन्यया,	द्रष्टुम्	= (साकाररूपसे)
परन्तप	= हे शत्रुतापन	भक्त्या		देखनेमें
अर्जुन	= अर्जुन!		च	= तथा
एवंविधः	= इस प्रकार	तत्त्वेन	प्रवेष्टुम्	= प्रवेश (प्राप्त)
अहम्	= (चतुर्भुजरूप- वाला) मैं	ज्ञातुम्		करनेमें
		च	शक्यः	= शक्य हूँ।

व्याख्या—‘भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं-विधोऽर्जुन’—यहाँ ‘तु’ पद पहले बताये हुए साधनोंसे विलक्षण साधन बतानेके लिये आया है। भगवान् कहते हैं कि ‘हे अर्जुन! तुमने मेरा जैसा शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी चतुर्भुजरूप देखा है, वैसा रूपवाला मैं यज्ञ, दान, तप आदिके द्वारा नहीं देखा जा सकता, प्रत्युत अनन्यभक्तिके द्वारा ही देखा जा सकता हूँ।

अनन्यभक्तिका अर्थ है—केवल भगवान्का ही आश्रय हो, सहारा हो, आशा हो, विश्वास हो*। भगवान्के सिवाय किसी योग्यता, बल, बुद्धि आदिका किंचिन्मात्र भी सहारा न हो। इनका अन्तःकरणमें किंचिन्मात्र भी महत्त्व न हो। यह अनन्यभक्ति स्वयंसे ही होती है, मन-बुद्धि-इन्द्रियों आदिके द्वारा नहीं। तात्पर्य है कि केवल स्वयंकी व्याकुलतापूर्वक उत्कण्ठा हो, भगवान्के दर्शन बिना एक क्षण भी चैन न पड़े। ऐसी जो भीतरमें स्वयंकी बेचैनी है, वही भगवत्प्राप्तिमें खास कारण है। इस बेचैनीमें, व्याकुलतामें अनन्त जन्मोंके अनन्त पाप भस्म हो जाते हैं। ऐसी अनन्यभक्तिवालोंके लिये ही भगवान्ने कहा है—‘जो अनन्यचित्तवाला भक्त नित्य-निरन्तर मेरा चिन्तन करता है, उसके लिये मैं सुलभ हूँ’ (गीता—आठवें अध्यायका चौदहवाँ श्लोक); और ‘जो अनन्यभक्त मेरा चिन्तन करते हुए उपासना करते हैं, उनका योगक्षेम मैं वहन करता हूँ (गीता—नवें अध्यायका बाईसवाँ श्लोक)।

अनन्यभक्तिका दूसरा तात्पर्य यह है कि अपनेमें भजन-स्मरण करनेका, साधन करनेका, उत्कण्ठापूर्वक पुकारनेका जो कुछ सहारा है, वह सहारा किंचिन्मात्र भी न हो। फिर साधन किसलिये करना है? केवल अपना अभिमान मिटानेके लिये अर्थात् अपनेमें जो साधन करनेके बलका भान होता है, कि साधनके बलपर मैं अपना उद्धार

कर लूँगा, उसको मिटानेके लिये ही साधन करना है। तात्पर्य है कि भगवान्की प्राप्ति साधन करनेसे नहीं होती, प्रत्युत साधनका अभिमान गलनेसे होती है। साधनका अभिमान गल जानेसे साधकपर भगवान्की शुद्ध कृपा असर करती है अर्थात् उस कृपाके आनेमें कोई आड़ नहीं रहती और (उस कृपासे) भगवान्की प्राप्ति हो जाती है।

‘ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुम्’—ऐसी अनन्यभक्तिसे ही मैं तत्त्वसे जाना जा सकता हूँ, अनन्यभक्तिसे ही मैं देखा जा सकता हूँ और अनन्यभक्तिसे ही मैं प्राप्त किया जा सकता हूँ।

ज्ञानके द्वारा भी भगवान् तत्त्वसे जाने जा सकते हैं और प्राप्त किये जा सकते हैं (गीता—अठारहवें अध्यायका पचपनवाँ श्लोक), पर दर्शन देनेके लिये भगवान् बाध्य नहीं हैं।

‘ज्ञातुम्’ कहनेका तात्पर्य है कि मैं जैसा हूँ, वैसा-का-वैसा जाननेमें आ जाता हूँ। जाननेमें आनेका यह अर्थ नहीं है कि मैं उसकी बुद्धिके अन्तर्गत आ जाता हूँ, प्रत्युत उसकी जाननेकी शक्ति मेरेसे परिपूर्ण हो जाती है। तात्पर्य है कि वह मेरेको ‘वासुदेवः सर्वम्’ (गीता ७। १९) और ‘सदसच्चाहम्’ (गीता ९। १९)— इस तरह वास्तविक तत्त्वसे जान लेता है।

‘द्रष्टुम्’ कहनेका तात्पर्य है कि वह सगुणरूपसे अर्थात् विष्णु, राम, कृष्ण आदि जिस किसी भी रूपसे देखना चाहे, मेरेको देख सकता है।

‘प्रवेष्टुम्’ कहनेका तात्पर्य है कि वह भगवान्के साथ अपने-आपकी अभिन्नताका अनुभव कर लेता है अथवा उसका भगवान्की नित्यलीलामें प्रवेश हो जाता है। नित्यलीलामें प्रवेश होनेमें भक्तकी इच्छा और भगवान्की मरजी ही मुख्य होती है। यद्यपि भगवान्के सर्वथा शरण

* (१) एक भरोसो एक बल एक आस बिस्वास। एक राम घन स्याम हित चातक तुलसीदास॥ (दोहावली २७७)

(२) एक बानि करुनानिधान की। सो प्रिय जाकें गति न आन की॥ (मानस ३। १०। ४)

होनेपर भक्तकी सब इच्छाएँ समाप्त हो जाती हैं, तथापि भगवान्की यह एक विलक्षणता है कि भक्तकी लीलामें प्रवेश होनेकी जो इच्छा रही है, उसको वे पूरी कर देते हैं। केवल पारमार्थिक इच्छाको ही पूरी करते हों, ऐसी बात नहीं; किन्तु भक्तकी पहले जो सांसारिक यत्किंचित् इच्छा रही हो, उसको भी भगवान् पूरी कर देते हैं। जैसे भगवद्दर्शनसे पूर्वकी इच्छाके अनुसार ध्रुवजीको छत्तीस हजार वर्षका राज्य मिला और विभीषणको एक कल्पका। तात्पर्य यह हुआ कि भगवान् भक्तकी इच्छाको पूरी कर देते हैं और फिर अपनी मरजीके अनुसार उसे वास्तविक पूर्णताकी प्राप्ति करा देते हैं, जिससे भक्तके लिये कुछ भी

करना, जानना और पाना शेष नहीं रहता।

विशेष बात

भक्तकी खुदकी जो उत्कट अभिलाषा है, उस अभिलाषामें ऐसी ताकत है कि वह भगवान्में भी भक्तसे मिलनेकी उत्कण्ठा पैदा कर देती है। भगवान्की इस उत्कण्ठामें बाधा देनेकी किसीमें भी सामर्थ्य नहीं है। अनन्त सामर्थ्यशाली भगवान्की जब भक्तकी तरफ कृपा उमड़ती है, तब वह कृपा भक्तके सम्पूर्ण विघ्नोंको दूर करके, भक्तकी योग्यता-अयोग्यताको किंचिन्मात्र भी न देखती हुई भगवान्को भी परवश कर देती है, जिससे भगवान् भक्तके सामने तत्काल प्रकट हो जाते हैं।

परिशिष्ट भाव—जहाँ भगवान्ने ज्ञानकी परानिष्ठा बतायी है, वहाँ ज्ञानसे केवल जानना और प्रवेश करना—ये दो ही बताये हैं—‘ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्’ (गीता १८।५५) परन्तु यहाँ भक्तिसे जानना, देखना और प्रवेश करना—ये तीनों बताये हैं। भक्तिसे भगवान्के दर्शन भी हो सकते हैं—यह भक्तकी विशेषता है, जबकि ज्ञानकी परानिष्ठा होनेपर भी भगवान्के दर्शन नहीं होते। अतः भक्तकी विशेष महिमा है। भक्तिमें समग्रकी प्राप्ति होती है।

ब्रह्मकी प्राप्तिमें जानना और प्रवेश करना—ये दो बातें हो सकती हैं, पर समग्रकी प्राप्तिमें जानना, प्रवेश करना और देखना—ये तीनों बातें होती हैं। कारण कि एकदेशीयमें एकदेशीयता होती है और समग्रमें समग्रता होती है।

सम्बन्ध—अब भगवान् अनन्यभक्तिके साधनोंका वर्णन करते हैं।

**मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ ५५ ॥**

पाण्डव	= हे पाण्डव !	(और)	सर्वभूतेषु	= प्राणिमात्रके साथ
यः	= जो	मद्भक्तः	निर्वैरः	= वैरभावसे रहित है,
मत्कर्मकृत्	= मेरे लिये ही कर्म करनेवाला,	है (तथा)	सः	= वह भक्त
मत्परमः	= मेरे ही परायण	सङ्गवर्जितः	माम्	= मुझे
		रहित (और)	एति	= प्राप्त होता है।

व्याख्या—[इस श्लोकमें पाँच बातें आयी हैं। इन पाँचोंको ‘साधनपंचक’ भी कहते हैं। इन पाँचों बातोंके दो विभाग हैं। (१) भगवान्के साथ घनिष्ठता और (२) संसारके साथ सम्बन्ध-विच्छेद। पहले विभागमें ‘मत्कर्मकृत्’, ‘मत्परमः’ और ‘मद्भक्तः’—ये तीन बातें हैं; और दूसरे विभागमें ‘सङ्गवर्जितः’ और ‘निर्वैरः सर्वभूतेषु’—ये दो बातें हैं।

‘मत्कर्मकृत्’—जो जप, कीर्तन, ध्यान, सत्संग, स्वाध्याय आदि भगवत्सम्बन्धी कर्मोंको और वर्ण, आश्रम, देश, काल, परिस्थिति आदिके अनुसार प्राप्त लौकिक

कर्मोंको केवल मेरे लिये ही अर्थात् मेरी प्रसन्नताके लिये ही करता है, वह ‘मत्कर्मकृत्’ है।

वास्तवमें देखा जाय तो कर्मके पारमार्थिक और लौकिक—ये दो बाह्यरूप होते हैं, पर भीतरमें ‘सब कर्म केवल भगवान्के लिये ही करने हैं’—ऐसा एक ही भाव रहता है, एक ही उद्देश्य रहता है। तात्पर्य यह हुआ कि भक्त शरीर-इन्द्रियाँ-मन-बुद्धिसे जो कुछ भी कर्म करता है, वह सब भगवान्के लिये ही करता है। कारण कि उसके पास शरीर, मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ, योग्यता, करनेकी सामर्थ्य, समझ आदि जो कुछ है, वह सब-की-सब भगवान्की ही

दी हुई है और भगवान्की ही है, तथा वह स्वयं भी भगवान्का ही है। वह तो केवल भगवान्की प्रसन्नताके लिये, भगवान्की आज्ञाके अनुसार, भगवान्की दी हुई शक्तिसे निमित्तमात्र बनकर कार्य करता है। यही उसका 'मत्कर्मकृत्' होना है।

'मत्परमः'—जो मेरेको ही परमोत्कृष्ट समझकर केवल मेरे ही परायण रहता है अर्थात् जिसका परम प्रापणीय, परम ध्येय, परम आश्रय केवल मैं ही हूँ, ऐसा भक्त 'मत्परमः' है।

'मद्भक्तः'—जो केवल मेरा ही भक्त है अर्थात् जिसने मेरे साथ अटल सम्बन्ध जोड़ लिया है कि 'मैं केवल भगवान्का ही हूँ और केवल भगवान् ही मेरे हैं, तथा मैं अन्य किसीका भी नहीं हूँ और अन्य कोई भी मेरा नहीं है।' ऐसा होनेसे भगवान्में अतिशय प्रेम हो जाता है; क्योंकि जो अपना होता है, वह स्वतः प्रिय लगता है। प्रेमकी जागृतिमें अपनापन ही मुख्य है।

वह भक्त सब देशमें, सब कालमें, सम्पूर्ण वस्तु-व्यक्तियोंमें और अपने-आपमें सदा-सर्वदा प्रभुको ही परिपूर्ण देखता है। इस दृष्टिसे प्रभु सब देशमें होनेसे यहाँ भी हैं, सब कालमें होनेसे अभी भी हैं, सम्पूर्ण वस्तु-व्यक्तियोंमें होनेसे मेरेमें भी हैं और सबके होनेसे मेरे भी हैं—ऐसा भाव रखनेवाला ही 'मद्भक्तः' है।

'संगवर्जितः निर्वैरः सर्वभूतेषु यः'—केवल भगवान्के लिये ही कर्म करनेसे, केवल भगवान्के ही परायण रहनेसे और केवल भगवान्का ही भक्त बननेसे क्या होता है? इसका उपर्युक्त पदोंसे वर्णन करते हैं कि वह 'संगवर्जितः' हो जाता है अर्थात् उसकी संसारमें आसक्ति, ममता और कामना नहीं रहती। आसक्ति, ममता और कामनासे ही संसारके साथ सम्बन्ध होता है। भगवान्में अनन्य प्रेम होते ही आसक्ति आदिका अत्यन्त अभाव हो जाता है।

दूसरी बात, जब भक्तको 'मैं भगवान्का ही अंश हूँ'—इस वास्तविकताका अनुभव हो जाता है, तब उसका भगवान्में प्रेम जाग्रत् हो जाता है। प्रेम जाग्रत् होनेपर रागका अत्यन्त अभाव हो जाता है। रागका अत्यन्त अभाव होनेसे और सर्वत्र भगवद्भाव होनेसे उसके शरीरके साथ कोई कितना ही दुर्व्यवहार करे, उसको मारे-पीटे, उसका अनिष्ट करे, तो भी उसके हृदयमें अनिष्ट करनेवालेके प्रति किंचिन्मात्र भी वैरभाव उत्पन्न नहीं होता। वह उसमें

भगवान्की ही मरजी, कृपा मानता है। ऐसे भक्तको भगवान्ने 'निर्वैरः सर्वभूतेषु' कहा है।

'संगवर्जितः' और 'निर्वैरः सर्वभूतेषु'—इन दोनोंका वर्णन करनेका तात्पर्य 'उसका संसारसे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है' यह बतानेमें है। संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद होनेपर स्वतःसिद्ध परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है।

'स मामेति'—ऐसा वह मेरा भक्त मेरेको ही प्राप्त हो जाता है। 'स मामेति' में तत्त्वसे जानना, दर्शन करना और प्राप्त होना—ये तीनों ही बातें आ जाती हैं, जो कि पीछेके (चौवनवें) श्लोकमें बतायी गयी हैं। तात्पर्य है कि जिस उद्देश्यसे मनुष्यजन्म हुआ है, वह उद्देश्य सर्वथा पूर्ण हो जाता है।

विशेष बात

श्रीभगवान्ने नवें अध्यायके अन्तमें कहा था—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

मामेवैष्यसि युक्तवैवमात्मानं मत्परायणः ॥

(१। ३४)

ऐसा कहनेपर भी भगवान्के मनमें यह बात रह गयी कि मैं अपने रहस्यकी सब बात किस तरहसे, किस रीतिसे समझाऊँ? इसीको समझानेके लिये भगवान्ने दसवाँ और ग्यारहवाँ अध्याय कहा है।

जीवने उत्पत्ति-विनाशशील और नित्य परिवर्तनशील प्रकृति और प्रकृतिके कार्य शरीर-संसारका सहारा ले रखा है, जिससे यह अविनाशी और नित्य अपरिवर्तनशील भगवान्से विमुख हो रहा है। इस विमुखताको मिटाकर जीवको भगवान्के सम्मुख करनेमें ही इन दोनों—दसवें और ग्यारहवें अध्यायका तात्पर्य है।

इस मनुष्यके पास दो शक्तियाँ हैं—चिन्तन करनेकी और देखनेकी। इनमेंसे जो चिन्तन करनेकी शक्ति है, उसको भगवान्की विभूतियोंमें लगाना चाहिये। तात्पर्य है कि जिस किसी वस्तु, व्यक्ति आदिमें जो कुछ विशेषता, महत्ता, विलक्षणता, अलौकिकता दीखे और उसमें मन चला जाय, उस विशेषता आदिको भगवान्की ही मानकर वहाँ भगवान्का ही चिन्तन होना चाहिये। इसके लिये भगवान्ने दसवाँ अध्याय कहा है।

दूसरी जो देखनेकी शक्ति है, उसको भगवान्में लगाना चाहिये। तात्पर्य है कि जैसे भगवान्के दिव्य अविनाशी विराटरूपमें अनेक रूप हैं, अनेक आकृतियाँ हैं, अनेक

तरहके दृश्य हैं, ऐसे ही यह संसार भी उस विराटरूपका ही एक अंग है और इसमें अनेक नाम, रूप, आकृति आदिके रूपमें परमात्मा-ही-परमात्मा परिपूर्ण हैं। इस दृष्टिसे सबको परमात्मस्वरूप देखे। इसके लिये भगवान्ने ग्यारहवाँ अध्याय कहा है।

अर्जुनने भी इन दोनों दृष्टियोंके लिये दो बार प्रार्थना की है। दसवें अध्यायके सत्रहवें श्लोकमें अर्जुनने कहा कि 'हे भगवन्! मैं किन-किन भावोंमें आपका चिन्तन करूँ?' तो भगवान्ने चिन्तनशक्तिको लगानेके लिये अपनी विभूतियोंका

वर्णन किया। ग्यारहवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनने कहा कि 'मैं आपके रूपको देखना चाहता हूँ' तो भगवान्ने अपना विश्वरूप दिखाया और उसको देखनेके लिये अर्जुनको दिव्यचक्षु दिये।

तात्पर्य यह हुआ कि साधकको अपनी चिन्तन और दर्शन-शक्तिको भगवान्के सिवाय दूसरी किसी भी जगह खर्च नहीं करनी चाहिये अर्थात् साधक चिन्तन करे तो परमात्माका ही चिन्तन करे और जिस किसीको देखे तो उसको परमात्मस्वरूप ही देखे।

परिशिष्ट भाव—जिस भक्तिसे भगवान् चतुर्भुजरूपसे देखे जा सकते हैं, उस भक्तिका स्वरूप बताते हैं कि मनुष्य संसारसे सम्बन्ध-विच्छेद करके सर्वथा मेरे परायण हो जाय। 'मत्कर्मकृत्'—यह स्थूलशरीरसे भगवान्के परायण होना है, 'मत्परमः'—यह सूक्ष्म तथा कारणशरीरसे भगवान्के परायण होना है, और 'मद्भक्तः'—यह स्वयंसे भगवान्के परायण होना है; क्योंकि 'मैं भगवान्का हूँ और भगवान् मेरे हैं'—यह स्वयंकी स्वीकृति है।

'स मामेति' पदोंसे समग्रकी प्राप्ति बतायी गयी है।

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे विश्वरूपदर्शनयोगो नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस प्रकार ॐ, तत्, सत्—इन भगवन्नामोंके उच्चारणपूर्वक ब्रह्मविद्या और योगशास्त्रमय श्रीमद्भगवद्गीतोपनिषद्रूप श्रीकृष्णार्जुनसंवादमें 'विश्वरूपदर्शनयोग' नामक ग्यारहवाँ अध्याय पूर्ण हुआ ॥ ११ ॥

अर्जुनने भगवान्से दिव्यदृष्टि प्राप्त करके भगवान्के जिस विश्वरूपके दर्शन किये थे, उसके वर्णनको पढ़-सुनकर भगवान्के प्रभावको मान लेनेसे भगवान्के साथ योग-(सम्बन्ध-) का अनुभव हो जाता है। अतः ग्यारहवें अध्यायका नाम 'विश्वरूपदर्शनयोग' है।

ग्यारहवें अध्यायके पद, अक्षर और उवाच

(१) इस अध्यायमें 'अथैकादशोऽध्यायः' के तीन, 'अर्जुन उवाच' आदि पदोंके बाईस, श्लोकोंके आठ सौ इक्यावन और पुष्पिकाके तेरह पद हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण पदोंका योग आठ सौ नवासी है।

(२) 'अथैकादशोऽध्यायः' के सात, 'अर्जुन उवाच' आदि पदोंके सत्तर, श्लोकोंके दो हजार एक सौ तिरानबे और पुष्पिकाके पचास अक्षर हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण अक्षरोंका योग दो हजार तीन सौ बीस है। इस अध्यायके पचपन श्लोकोंमेंसे पहला श्लोक तैंतीस अक्षरोंका और पंद्रहवेंसे पचासवें श्लोकतकके छत्तीस श्लोक चौवालीस अक्षरोंके हैं। शेष अठारह श्लोक बत्तीस अक्षरोंके हैं।

(३) इस अध्यायमें ग्यारह 'उवाच' हैं—चार 'अर्जुन उवाच', चार 'श्रीभगवानुवाच' और तीन 'संजय

उवाच'।

ग्यारहवें अध्यायमें प्रयुक्त छन्द

इस अध्यायमें पचपन श्लोक हैं। उनमें उन्नीस श्लोक 'अनुष्टुप्' छन्दके, तीन श्लोक 'उपेन्द्रवज्रा' छन्दके और तैंतीस श्लोक 'उपजाति' छन्दके हैं।

'अनुष्टुप्' छन्दवाले उन्नीस श्लोकोंमेंसे—पहले और पचपनवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'भगण' प्रयुक्त होनेसे 'भ-विपुला'; ग्यारहवें और तिरपनवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'नगण' प्रयुक्त होनेसे 'न-विपुला'; और दसवें श्लोकके प्रथम चरणमें 'नगण' तथा तृतीय चरणमें 'भगण' प्रयुक्त होनेसे 'संकीर्ण-विपुला' छन्दवाले श्लोक हैं। शेष चौदह (दूसरेसे नवेंतक, बारहवेंसे चौदहवेंतक, इक्यावनवाँ, बावनवाँ और चौवनवाँ) श्लोक ठीक 'पथ्यावक्त्र' अनुष्टुप् छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं।

शेष छत्तीस श्लोकोंमेंसे—अट्ठाईसवाँ, उनतीसवाँ और पैतालीसवाँ श्लोक 'उपेन्द्रवज्रा' तथा शेष तैंतीस (पंद्रहवेंसे सत्ताईसवेंतक, तीसवेंसे चौवालीसवेंतक और छियालीसवेंसे पचासवेंतक) श्लोक ठीक 'उपजाति' छन्दके लक्षणोंसे युक्त हैं।